बच्चे कब क्या सीखते हैं ?

● अ० अनन्त

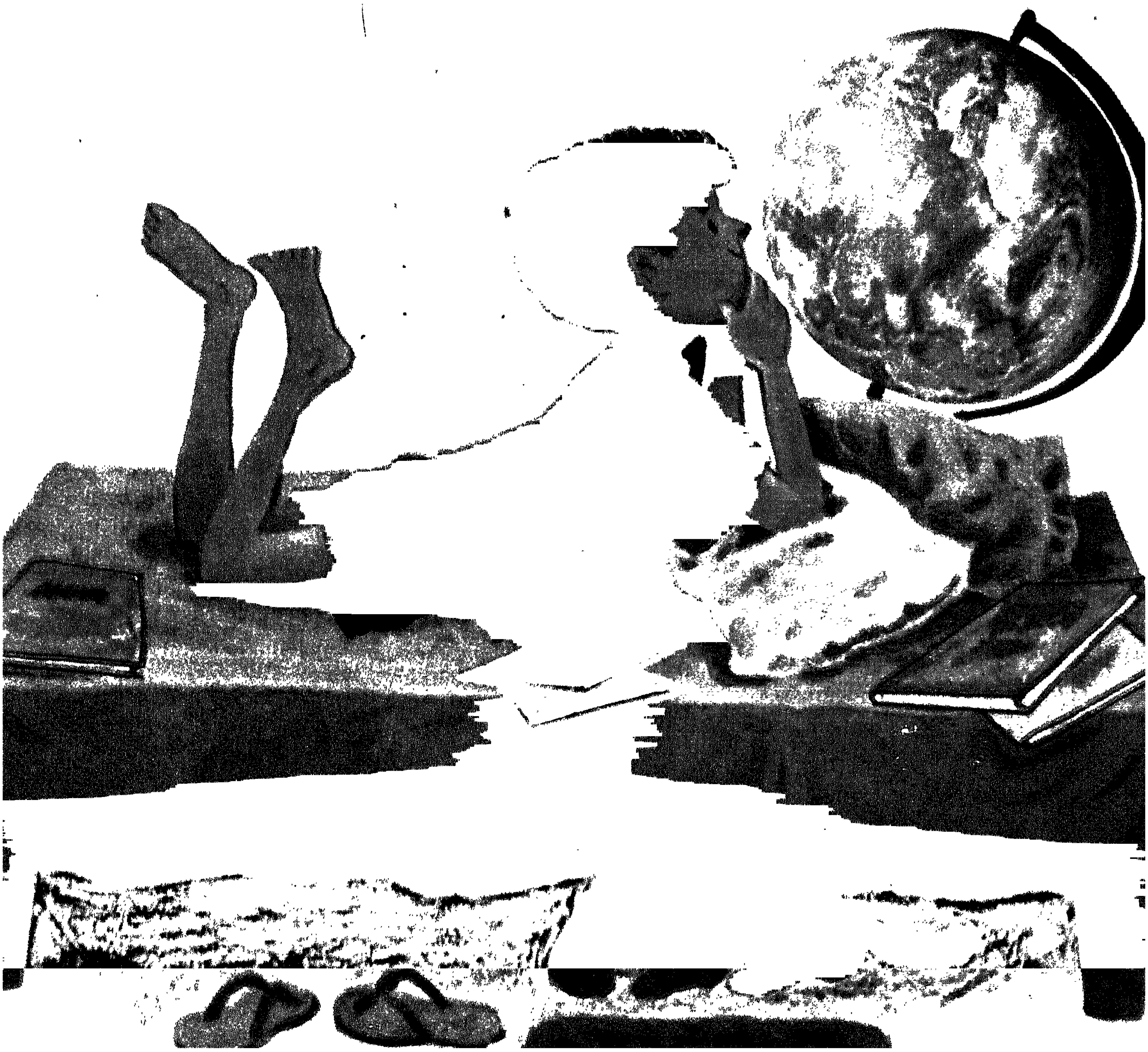

बच्चे कब क्या सीखते हैं ?

अभिभावक बच्चों का जन्म से ही विकास कैसे करें कि बच्चे बड़े होकर एक आदर्श नागरिक बन सकें तथा बच्चों के विकास में कौन-कौन-से कारक उत्तरदायी हैं, इस पुस्तक में इस प्रश्न का उत्तर ढूंढ़ने का सफल प्रयास किया गया है।

प्रस्तुत पुस्तक अ॰ अंनत जोकि प्रख्यात शिक्षाशास्त्री हैं, उनके द्वारा वर्षों के रिसर्च के अनुभव के आधार पर यह पुस्तक लिखी गई है। इस पुस्तक में बालक के विकास-क्रम की विभिन्न अवस्थाओं में उत्पन्न हुई विसंगतियों पर क्रमवार प्रकाश डाला गया है, कथा, शिल्प, भाषा तथा विषय के आधार पर पुस्तक अद्भुत है।

शिक्षा

बच्चे कब क्या सीखते हैं ?

लेखक

अ० अनन्त

दो शब्द

- उन अभिभावकों को
जो ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं।
- उन शिक्षकों एवं
बुद्धिजीवियों के लिए जो देश
की भावी पीढ़ी को उच्च-चरित्र एवं
जीवन में सफलता का मूलमंत्र देना चाहते हैं।

समर्पण

उन 'सुशील' बालक-बालिकाओं को जो जीवन में वास्तविक 'आनन्द' प्राप्त करने में समर्थ होते हैं। अच्छी आदतों के द्वारा और अच्छी बातें सीख कर—

—'अनन्त'

ISBN : 81-7147-023-9

© • प्रकाशक

प्रकाशक • राजकुमार एण्ड संस
30/35, गली नं-9, विश्वास नगर
शाहदरा, दिल्ली-110032

संस्करण • प्रथम 2002

संशोधक • हरीश कुमार

मूल्य • 150.00 रुपये मात्र

आवरण • सत्यसेवक मुखर्जी

मुद्रक • बी. के. ऑफसेट, दिल्ली-110032

अनुक्रमणिका

1. वंशानुसंक्रमण और वातावरण—वंशानुसंक्रमण की परिभाषा, शारीरिक लक्षण, प्रजातीय, पैतृक, स्वभाव और चित्त के आवेग, बुद्धि, प्रजातीय, पैतृक, समालोचना, वातावरण, अन्य जुड़वां बच्चों का अध्ययन, एक वातावरण के माता-पिता के विभिन्न बच्चों का अध्ययन, लिंग-भेद का प्रभाव, वातावरण (5-22)

2. शारीरिक विकास—शारीरिक और मानसिक विकास में दो प्रकार का संबंध, साधारण शारीरिक विकास, कुण्ठित शारीरिक विकास, शारीरिक विकास के अध्ययन की विधियां, विकास चक्र, तौल की बाढ़, ऊंचाई की बाढ़, ऊंचे रहन-सहन का प्रभाव, विभिन्न अवयवों के विकास में परस्पर संबंध, सिर की बनावट, चेहरा, नाक, धड़, भुजाएं और पेट, हाथ और पांव, हड्डियां, हड्डियों की स्थिति और संख्या, हड्डियों के दृढ़ होने की क्रिया, दांत, अस्थायी दांत, स्थायी दांत, जीभ, मांसपेशियां, आन्तरिक अवयवों में परिवर्तन, श्वास-सम्बन्धी अवयव, पाचन-सम्बन्धी अवयव, रक्त सम्बन्धी अवयव, स्नायुमण्डल का विकास (23-40)

3. संवेगात्मक विकास—संवेगात्मक विकास, प्रारम्भिक संवेगात्मक प्रतिक्रियाएं, माध्यमिक विद्यालय के संवेगात्मक संघर्ष, नैराश्योत्पादक संवेग और शिक्षा में उनका महत्त्व, क्रोध, भय, पलायन और मिथ्या समाधान, अनावश्यक क्षतिपूर्ति, शक्तिदायक संवेग, परिहास, प्रेम और सहानुभूति (41-52)

4. आदत का विकास—बच्चों को भयभीत न करें, बच्चों में विश्वास का विकास, बच्चों की कल्पना-शक्ति का विकास, प्रशंसा द्वारा बच्चों का विकास (53-73)

5. बच्चे की रुचि और ध्यान का विकास—ध्यान और चेतना, ध्यान की दशाएं, वातावरण-संबंधी ध्यान की दशाएं, ध्यान, आकार गति,

अवधि, आवृत्ति, तीव्रता, ध्यान की व्यक्तिगत दशाएं (रुचि शिक्षा और अनुभव), रुचि (रुचियों के भेद), बालक में ध्यान देने की शक्ति का विकास, बालक की रुचियां, खेल-सम्बन्धी रुचियां, सामाजिक रुचियां, पढ़ने की रुचि, व्यावसायिक रुचि। (74-82)

6. अपराध और उपचार—बालकों का असामान्य व्यवहार, स्वाभाविक आवश्यकताओं की पूर्ति न होना, घरेलू कारण, अपराधी बनाने वाले अन्य कारण, व्यक्तिगत कारण, उपचार, अपराध प्रवृत्ति को रोकने के उपाय (83-95)

7. सामाजिक चेतना का विकास—सामाजिकता के ज्ञान के क्षेत्र, किशोरावस्था, सामाजिक प्रतिक्रिया में वैयक्तिक भेद (96-108)

8. व्यक्तित्व का विकास—व्यक्तित्व-निर्णय के सिद्धान्त, व्यक्तित्व-सम्बन्धी फ्रायड के विचार, सामाजिक प्रभाव, व्यक्तित्व का मूल्यांकन (109-121)

9. चरित्र विकास—चरित्र का स्वरूप, चरित्र-निर्माण के अनुशासन, चरित्र विकास की अवस्थाएं, नैतिक विकास, अच्छे नैतिक विकास के लिए आवश्यक बातें, नैतिकता सीखी जाती है, नैतिक विकास के अंग, नैतिक व्यवहार का विकास, नैतिक प्रत्यय का विकास, चरित्र का विकास, नैतिक विकास की अवस्थाएं, शैशव में नैतिकता, बचपन के प्रारम्भिक दिनों में नैतिकता, बचपन के अन्तिम दिनों में नैतिकता (122-136)

वंशानुसंक्रमण और वातावरण

बालकों के विकास में जिन कारकों का प्रमुख हाथ है उनमें वंशानुसंक्रमण और वातावरण दो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कारक हैं। हम संसार में सम्पूर्ण इन्द्रियों-सहित शरीर के साथ पदार्पण करते हैं। हमारे माता-पिता हमें शारीरिक साधन और बौद्धिक सामर्थ्य देते हैं, जिससे कि हम अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकें। जब हम बड़े होते हैं तो हमारे माता-पिता की दी हुई शक्तियां विकसित होने लगती हैं। इस प्रकार हम असहाय शिशु से एक सामाजिक प्राणी बन जाते हैं। इस सामाजिक व्यक्तित्व के विकास में सामाजिक वातावरण हमारे व्यवहारों और कार्यों को नियंत्रित और व्यवस्थित करता है। पर दूसरी पृष्ठभूमि में वंशानुसंक्रमण हमारे जीवन को बहुत अधिक प्रभावित करता है।

वंशानुसंक्रमण (Heredity) और वातावरण के सम्बन्ध की समस्या न केवल गम्भीर ही है अपितु प्राचीन भी है। जब से मनुष्य ने अपने और अपनी परिस्थितियों के बारे में सोचा है तब से उसे जीवित पदार्थों की इस सार्वभौमिक विशेषता का ज्ञान हुआ है। हमारी सभ्यता का विकास नहीं हो सकता था, यदि मनुष्य पौधों और पशुओं को पालतू बनाने के लिए वंशानुसंक्रमण के सिद्धान्त को समझ न पाता। अरस्तू से लेकर आज तक के विद्वानों ने इस समस्या पर अपने विचार प्रकट किये हैं, पर साम्यवाद के विकास के बाद वैज्ञानिकों के अब दो वर्ग हो गए हैं—(1) पूंजीवादी वैज्ञानिक और (2) साम्यवादी वैज्ञानिक। प्रथम वर्ग के वैज्ञानिक वंशानुसंक्रमण को अधिक महत्त्व देते हैं जबकि द्वितीय वर्ग के वैज्ञानिक वातावरण को अधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं।

बहुधा एक दम्पती की सन्तानों के शारीरिक लक्षणों में समानता पाई जाती है। बच्चा जब उत्पन्न होता है तो पड़ोस की स्त्रियां स्वभावतः बच्चे की आकृति के विभिन्न लक्षणों की तुलना माता-पिता की आकृति से करने लगती हैं। कभी-कभी किसी बच्चे की आकृति पूर्वजों से भी मिल जाती है। चीनी स्त्री-पुरुष के बच्चे की आंखें बादाम के शक्ल की छोटी-छोटी होती हैं और खाल का रंग पीला होता है। नीग्रो जाति की सन्तानों के शारीरिक लक्षण नीग्रो माता-पिता से ही मिलते हैं। शारीरिक लक्षणों की

इस समानता को दोनों वर्गों के विचारकों ने अपने-अपने पक्ष द्वारा समझाने का प्रयत्न किया है।

न केवल हमें शारीरिक लक्षणों की समानता के ही दर्शन होते हैं बल्कि असमानता के भी दर्शन होते हैं। हम जितनी भी मुखाकृतियों को बाजार में देखते हैं, उन्हें एक-दूसरे से विभिन्न पाते हैं। चाहे भाइयों और बहनों में कितनी भी समानता क्यों न हो पर कुछ-न-कुछ अन्तर अवश्य होगा। इस अन्तर का कारण भी वंशानुसंक्रमण या वातावरण ही है। इस वितण्डावाद को भली-भांति समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम वंशानुसंक्रमण के अर्थ को समझें।

वंशानुसंक्रमण की परिभाषा

वंशानुसंक्रमण का ज्ञान जनन-विद्या (Genetics) के ज्ञान से सम्बन्धित है। अतएव यह आवश्यक है कि जनन-विद्या के उन सिद्धान्तों को जान लें जो वंशानुसंक्रमण के अर्थ से सम्बन्धित हैं।

आज से सौ वर्ष पूर्व मेन्डेल नामक एक पादरी ने एक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इसने वंशानुसंक्रमण-सम्बन्धी विचारों को एकदम परिवर्तित कर दिया है। मेन्डेल और डार्विन के वैज्ञानिक अन्वेषणों ने पिछले 50 वर्षों में क्रान्तिकारी गवेषणाओं में सहयोग दिया है। पहले मनुष्य यह सोचते थे कि बच्चे में माता-पिता के शारीरिक लक्षणों का एक मिश्रण होता है, क्योंकि मैथुन द्वारा दोनों के रक्तों का सम्मिश्रण होता है। इस अवैज्ञानिक धारणा के अनुसार यदि माता गौर वर्ण की है और पिता कृष्ण वर्ण का है तो बच्चे का वर्ण दोनों वर्णों के बीच का अर्थात् सांवला होगा। मेन्डेल ने यह सिद्ध किया कि वास्तव में रक्त द्वारा बच्चों में पैतृक गुण नहीं आते। पैतृक गुण तो अपरिवर्तनशील उन लघु अणुओं द्वारा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में आते हैं; जिन्हें हम पित्र्यैक (Gene) कहते हैं। यह अंग्रेजी शब्द उसी ग्रीक शब्द से बना है जिसका अर्थ रचना या प्रारम्भ होता है।

पित्र्यैक (Gene) वास्तव में हममें से सबके प्रारम्भ का कारण हैं। यह इतने छोटे होते हैं कि अत्यन्त शक्तिशाली सूक्ष्मदर्शक यन्त्र के द्वारा भी अदृष्ट रहते हैं और इनकी संख्या इतनी अधिक होती है कि ये हमारे सब अगणित शारीरिक लक्षणों को निश्चित करते हैं। पित्र्यैक को मेन्डेल ने दो प्रकार पाया—(1) प्रबल (Dominant), (2) गौण (Recessive)। प्रबल पित्र्यैक (Gene) वे होते हैं जो कि मनुष्यों के शारीरिक लक्षणों पर अपना प्रभाव दिखलाते हैं। गौण पित्र्यैक वे होते हैं जो मनुष्य के शरीर में रहते हुए भी अपना प्रभाव नहीं दिखा पाते। यदि पिता के किसी शारीरिक लक्षण का अनुरूप बच्चे में न हो और बाबा या परबाबा का अनुरूप हो तो पिता के पित्र्यैक (Gene) गौण हो गए और बाबा या परबाबा के पित्र्यैक (Gene) प्रबल हो गए।

इस प्रकार हमारे मस्तिष्क में वंशानुसंक्रमण के अर्थ के बारे में एक धूमिल-सी धारणा बन गई होगी। साधारण रीति से हमें माता-पिता द्वारा जो कुछ भी शारीरिक सम्पत्ति मिलती है उसे हम वंशानुसंक्रमण (Heredity) कहते हैं। इसकी परिभाषा निम्न प्रकार से हो सकती है। माता-पिता से हमें मूलरूप से जो कुछ भी शारीरिक विशेषताएं पित्र्य-सूत्रों द्वारा मिलती हैं उन्हें हम वंशानुसंक्रमण कहते हैं।

वंशानुसंक्रमण के अर्थ को समझाने के बाद हम सरलतापूर्वक वंशानुसंक्रमण और वातावरण के विवाद को समझ सकते हैं। वंशानुसंक्रमणवादियों के अनुसार शारीरिक और मानसिक विशेषताओं का निर्णय पित्र्यैकों द्वारा किया जा सकता है, क्योंकि हम ये सारी विशेषताएं किसी-न-किसी रूप में माता-पिता से पित्र्यैकों (Genes) द्वारा पाते हैं। इसीलिए प्राचीनकाल में यौन-सम्बन्धों पर मनुस्मृति-बाइबिल आदि सभी धर्मग्रन्थों में कुछ-न-कुछ नियम पाए जाते हैं। वातावरण वादियों का कहना है कि मनुष्य की अधिकतर शारीरिक और मानसिक विशेषताएं तथा व्यक्तित्व वातावरण पर निर्भर करता है, क्योंकि वंशानुसंक्रमण मनुष्य के पाशविक रूप की व्याख्या करता है जबकि वातावरण मनुष्य के मानव-स्वरूप की व्याख्या करता है। बिना मानव-समाज के यह असम्भव है कि मनुष्य का मानव एवं सामाजिक स्वरूप विकसित हो सके। अरस्तू ने भी कहा है कि जो व्यक्ति समाज में नहीं रह सकता या जिसे समाज में रहने की कोई आवश्यकता नहीं है, तो ऐसा व्यक्ति निश्चित रूप से पशु या एक देवता है। इन दोनो वर्गों के प्रमुख लेखकों ने गवेषणाओं द्वारा अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। इन गवेषणाओं को हम चार भागों में विभक्त कर सकते हैं—(1) शारीरिक लक्षण, (2) बुद्धि, (3) स्वभाव और चित्त के आवेग, (4) दोनों लिंगों के व्यक्तित्व में अन्तर। चारों मनुष्य के व्यक्तित्व के भाग हैं।

इस प्रकार हम यह देखेंगे कि शारीरिक लक्षणों, स्वभाव और चित्त के आवेगों और बौद्धिक लक्षणों के विकास में वातावरण का प्रभाव अधिक है या प्रजातीय (Racial) अथवा पैतृक (Ancestral) वंशानुसंक्रमण का। इसके साथ-साथ हम यह भी देखेंगे कि स्त्रियों व पुरुषों के व्यक्तित्व के भेद में लिंग-भेद का प्रमुख हाथ है अथवा वातावरण का।

शारीरिक लक्षण

शारीरिक लक्षणों के बारे में दो प्रमुख प्रकार के अध्ययन हुए हैं। प्रथम अध्ययन दो विभिन्न प्रजातीय वर्गों के मनुष्यों की शारीरिक रचनाओं की तुलना पर आश्रित है। द्वितीय अध्ययन माता-पिता व बच्चों की शारीरिक रचनाओं की तुलना पर आश्रित है।

प्रजातीय

शारीरिक लक्षणों की तुलना बौद्धिक लक्षणों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट, सरल व मूर्त (Concrete) है। एक अध्ययन में जापानी और अमरीकी सिपाहियों की लम्बाई की तुलना की गई है। जापानी सिपाहियों की ऊंचाई 56 इंच से कुछ कम से लेकर 69 इंच तक पाई गई है। दोनों प्रजातीय वर्गों के सैनिकों की औसत ऊंचाई क्रमशः 63.24 और 67.51 इंच है। इस अध्ययन के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है कि दोनों प्रजातीय समूह (Racial Stocks) की शारीरिक रचना विशेष रूप से ऊंचाई की विभिन्नता वंशानुसंक्रमण (Heredity) पर आश्रित है। यह धारणा सत्य नहीं है, क्योंकि इन दोनों प्रजातियों (Races) के सब पुरुषों का तुलनात्मक अध्ययन नहीं है। यह तो केवल कुछ सैनिकों की शारीरिक रचना पर ही आश्रित है। इसके अतिरिक्त दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इस अध्ययन से दोनों प्रजातियों (Races) के सैनिकों के वातावरण के अन्तर का विचार नहीं किया गया है। हम यह किसी भी प्रकार नहीं मान सकते कि जीवन की दशाओं, भोजन के प्रकारों, जलवायु की विभिन्नताओं का कोई भी प्रभाव शारीरिक रचना पर नहीं पड़ता। जापान में चावल अधिक खाया जाता है जिसमें कैल्शियम (Calcium) की कमी होती है। हो सकता है कि जापानी सिपाहियों की शारीरिक रचना पर चावल के भोजन का और जापानी जलवायु का प्रभाव पड़ा हो। एक बात और भी सम्भव है। जब दो विभिन्न प्रकार की नस्लों का मिश्रण होता है तो सन्तान अधिक बलशाली होती है। चूंकि अमेरिका के निवासी विभिन्न देशों और प्रजातियों (Races) की मिश्रित सन्तान (Hybrid) हैं। सम्भवतः इसलिए भी उनकी शारीरिक रचना जापानी सैनिकों की अपेक्षा अच्छी हो सकती है।

पैतृक

'कार्ल पियर्सन' ने अपनी प्रयोगशाला में माता-पिता और बच्चों की ऊंचाई के पारस्परिक सम्बन्धों का अध्ययन किया है। उसके अध्ययन का यह निष्कर्ष है कि माता-पिता और बच्चों की ऊंचाई का पारस्परिक सम्बन्ध +50 है। इस अध्ययन से वंशानुसंक्रमण के सिद्धान्त को मानने वाले विचारकों ने वंशानुसंक्रमण को अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध किया है। उनका कहना है कि यदि माता-पिता की शारीरिक ऊंचाई अच्छी है तो बच्चों की शारीरिक ऊंचाई भी अच्छी होगी। यदि माता-पिता की शारीरिक ऊंचाई कम है तो बच्चों की शारीरिक ऊंचाई भी कम रह जायेगी।

इस अध्ययन में भी वही कमी है जो कि पहले अध्ययन में थी। वातावरण के प्रभाव की उसी प्रकार उपेक्षा की गई। यह असम्भव है कि बच्चों को अपने माता-पिता की अपेक्षा वैज्ञानिक दृष्टि से अधिक सन्तुलित (Balanced) और

पौष्टिक (Nutritious) भोजन मिलता हो, क्योंकि इस पीढ़ी में भोजन-सम्बन्धी अनेक खोजें हुई हैं। माता-पिता को इतना संतुलित और पौष्टिक भोजन न मिल पाया हो और यह भी हो सकता है कि माता-पिता की आर्थिक दशा बिगड़ गई हो जिससे कि बच्चों को उचित भोजन न मिल पाए। इस बात का विश्वसनीय प्रमाण हमारे पास है कि जब बच्चों को प्रतिकूल दशाओं में रहना पड़ता है और भोजन उचित नहीं मिल पाता तो उनके शरीर की ऊंचाई और तौल कम हो जाता है। ऊंचाई बढ़ने के पक्ष में 'फ्रैञ्ज बोआस' (Franz Boas) ने देशान्तरों से आकर अमेरिका में बसने वाले यहूदी और जापानी व्यक्तियों के अमेरिका में पैदा हुए बच्चों का अध्ययन किया है। इन बच्चों में न केवल अपने माता-पिता की ऊंचाई से दो इंच अधिक ऊंचाई बढ़ी, बल्कि उनकी सिर की बनावट में भी परिवर्तन हो गया।

शारीरिक रचना पर वंशानुसंक्रमण और वातावरण के प्रभावों के अध्ययन के सम्बन्ध में दो बातों का और ध्यान रखना चाहिए। गर्भाधान के काल से ही शरीर की ऊंचाई वाले पित्र्यैकों (Genes) पर अगणित प्रभाव पड़ते हैं जिसके कारण वंशानुसंक्रमण या वातावरण का निश्चित प्रभाव नहीं जाना जा सकता। इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह है कि वातावरण के प्रभाव का अध्ययन हम एक पीढ़ी में नहीं कर सकते। बच्चे के प्रथम शारीरिक कोष्ठ (Body cell) पर पिछली पीढ़ी के वातावरण का प्रभाव माता-पिता के उत्पादक कोष्ठों द्वारा बना रहता है। इसलिए हम उपर्युक्त अध्ययनों के आधार पर किसी भी निश्चित और वैज्ञानिक निर्णय पर नहीं पहुंच सकते। हां, हम अतीत काल से पड़ने वाले वंशानुसंक्रमण और वातावरण के प्रभाव की उपेक्षा नहीं कर सकते। और इस बात से भी इनकार नहीं कर सकते कि शारीरिक लक्षणों पर वंशानुसंक्रमण का काफी प्रभाव पड़ता है।

स्वभाव और चित्त के आवेग

मनुष्य को जन्म से न केवल कुछ चालक (Drive) कार्य ही करने को प्राप्त होते हैं, बल्कि उसे भावनाओं का अनुभव करने की शक्ति वंशानुसंक्रमण से प्राप्त होती है। यह सत्य है कि मनुष्य में चित्त के आवेग या भावनाएं (Emotions) होती हैं। पर यह स्पष्ट नहीं है कि ये वंशानुसंक्रमण से किस प्रकार प्राप्त होती हैं। ऐसा कहा जाता है कि बच्चों की भावनाएं अपने माता-पिता से विशेष रूप से मिलती हैं। यह कथन 1919 में वाट्सन (Watson) द्वारा किए गए प्रयोगों पर आश्रित है। उनका यह कहना है कि जन्म से शिशु को प्रेम, भय और क्रोध ये तीन प्रकार के आवेग प्राप्त होते हैं। पर कुछ अन्य अध्ययनों द्वारा वाटसन के कथन को भ्रमपूर्ण सिद्ध कर दिया गया है। वास्तव में नवजात शिशु को वंशानुसंक्रमण द्वारा विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न प्रकार के आवेगों

को व्यक्त करने का सामान्य सामर्थ्य होता है। पर यह निश्चित नहीं होता कि उन आवेगों के वश में बच्चे का व्यवहार क्या होगा ! सामान्य परिस्थिति में सब बच्चों के आवेगों की अभिव्यक्ति समान नहीं होती।

मनुष्य के व्यवहारों पर या भावनाओं की अभिव्यक्ति पर संस्कृति का प्रभाव वंशानुसंक्रमण से कहीं अधिक होता है। अंडेमन निवासियों और न्यूजीलैण्ड की माओरी (Maori) वन्यजाति में जब बहुत दिनों बाद मित्र मिलते हैं तो रोकर वे एक-दूसरे का स्वागत करते हैं। भारतवर्ष में भी भारतीय संस्कृति के अनुसार ज़ब लड़की ससुराल से अपने मायके वापस आती है तो वह अपनी माता आदि से गले मिलकर रोती है। इस भावाभिव्यञ्जन का अभिप्राय यह है कि दोनों को इतने अधिक समय के बाद मिलने पर असीम प्रसन्नता है। ऐसा भी होता है कि लड़की को अनिच्छापूर्वक पति को छोड़कर मायके आना पड़ा हो या मां को मन-ही-मन यह दुःख रहा हो कि लड़की को जाते समय विदाई देनी पड़ेगी। पर ऐसी दशा में भी उनको रोने का अभिनय तो करना ही पड़ता है।

साधारण रूप से ऐसा माना जाता है कि मनुष्य की वर्तमान चित्तवृत्ति उसके स्वभाव की द्योतक है। उस स्वभाव की परिभाषा के अनुसार मनुष्य की भावनाओं के उद्रेक पर उसका स्वभाव आश्रित है। इसीलिए साधारण रूप से कुछ सिखों के व्यवहारों को देखकर मनुष्य यह कहते हैं कि सिख एक बहादुर और लड़ाकू जाति है। कुछ लोग बंगालियों के बारे में यह कहते हैं कि वे अधिक भावुक होते हैं। इस प्रकार मनुष्यों के स्वभाव की व्याख्या प्रजातीय अथवा विभिन्न पारिवारिक समूहों द्वारा की जाती है। कुछ बच्चे जन्म के समय घबराने वाले या शान्त स्वभाव के होते हैं, पर यह कहना कठिन है कि इनमें से कौन-सी विशेषता वंशानुसंक्रमण द्वारा प्राप्त होती है। बहुत कुछ माता के गर्भ की दशा पर या शिशु के जन्म के समय की कष्टप्रद दशाओं पर आश्रित है। पर यह स्पष्ट नहीं है कि कोई जनन-सम्बन्धी कारक भी महत्त्वपूर्ण है या नहीं। ऐसा माना जाता है कि शरीर की कुछ ग्रंथियों का स्वभाव पर आंशिक प्रभाव पड़ता है। यद्यपि मनुष्य की ग्रन्थियों में विभेद अवश्य होता है तथापि यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि उनके द्वारा वंशानुसंक्रमण किस प्रकार हमारे स्वभाव को नियंत्रित करता है।

उपर्युक्त प्रमाण के प्रकाश में हम वंशानुसंक्रमण के आधार पर यह कह सकते हैं कि एक व्यक्ति शक्तिशाली होगा या निर्बल होगा और चुस्त होगा या सुस्त होगा। पर हमारे व्यक्तित्व के सब अंगों पर इसका प्रभाव पड़ेगा या नहीं कहा नहीं जा सकता। एक व्यक्ति स्वार्थी होगा या परोपकारी, उदारचेता होगा या ईर्ष्यालु, और कृतज्ञ होगा या कृतघ्न, बताना कठिन है।

बुद्धि

मनुष्य की बुद्धि पर किस चीज का प्रभाव अधिक पड़ता है ? क्या यह हमारे पूर्व पुरुषों से वंशानुसंक्रमण द्वारा प्राप्त होती है ? या हमारे लालन-पालन की प्रणाली द्वारा निश्चित होती है। दूसरे शब्दों में बुद्धि पर वंशानुसंक्रमण का प्रभाव पड़ता है या वातावरण का। इन गम्भीर प्रश्नों पर विचार करने के लिए अनेक वैज्ञानिक अध्ययन हुए हैं। इन अध्ययनों को हम अनेक भागों में विभक्त कर सकते हैं—प्रजातीय पैतृक व्यवसाय या उद्योग-धन्धे का प्रभाव और जुड़वां बच्चों के नियंत्रित प्रयोग।

प्रजातीय

यर्क्स (Yerks) ने प्रथम महायुद्ध के समय अमेरिका के नीग्रो और गौरांगी 'रंगरूटों' की बुद्धि-परीक्षा की। उसके अनुसार नीग्रो और गौरांगी सैनिकों की आयु (Mental Age) क्रमशः 10.4 वर्ष और 13.1 वर्ष पाई गई। इसके बाद क्लिनबर्ग आदि अन्य मनोवैज्ञानिकों ने नीग्रो और गौरांगी पुरुषों की परीक्षा की है और इसी प्रकार के निष्कर्ष को निकाला है। इन बुद्धि-परीक्षाओं के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है कि अमरीकी गौरांग व्यक्तियों की प्रजाति (Race) नीग्रो प्रजाति (Race) से अधिक बुद्धिमान है और इसलिए इस प्रजाति (Race) के जितने भी व्यक्ति हैं उनमें वंशानुसंक्रमण (Heredity) द्वारा बुद्धिमत्ता बनी रहती है और वंशानुसंक्रमण (Heredity) के कारण ही नीग्रो अपेक्षाकृत अधिक मूर्ख होते हैं।

इन परीक्षणों के विरोध में कुछ ऐसे भी बुद्धि-परीक्षण हैं जो कि उपर्युक्त निष्कर्ष का खण्डन करते हैं। क्लार्क (Clark) ने न्यूयार्क और लौस एन्जिल्स में किए गए अध्ययनों के बारे में यह लिखा है कि गौरांग और नीग्रो व्यक्तियों की बुद्धि में कोई भी अन्तर नहीं है। इसके अतिरिक्त न्यूयार्क नगर के प्रतिभाशाली बच्चों का अध्ययन भी एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण है। जब न्यूयार्क नगर के शिक्षा-अधिकारियों ने प्रतिभाशाली बच्चों के लिए एक विशेष स्कूल की व्यवस्था करना निश्चित किया, तो प्रारम्भिक स्कूलों में से बुद्धि-परीक्षण द्वारा 500 प्रतिभाशाली बच्चे चुने गए। जब इन बच्चों की प्रजाति, धर्म और राष्ट्रीयता की पृष्ठभूमि का पता लगाया गया तो यह ज्ञात हुआ कि प्रजातीयता के आधार पर इन बच्चों का वितरण उसी अनुपात में था जिसमें कि न्यूयार्क नगर के निवासियों का था। दूसरे शब्दों में इन 500 बच्चों में 10 प्रतिशत नीग्रो बच्चे थे। यह अनुपात न्यूयार्क नगर की जनसंख्या का था। इसी प्रकार अन्य प्रजातीय वर्गों का भी अनुपात था। एक दूसरी मजेदार बात यह थी कि उसी अवस्था के अन्य अप्रतिभाशाली बच्चों की अपेक्षा इन बच्चों का वजन भारी था और

कद ऊंचा था। जहां तक विशिष्ट बुद्धिमान् व्यक्तियों का सम्बन्ध है प्रत्येक प्रजाति में हमें ऐसे व्यक्ति मिल सकते हैं। आज तक जितने भी परीक्षण हुए हैं उनमें एक 9 वर्ष की नीग्रो लड़की का बुद्धिफल (Intellegence quationt) 200 था; जो कि किसी भी साधारण बच्चे के बुद्धिफल से दुगना था।

इन महत्त्वपूर्ण और विरोधी प्रमाणों के अतिरिक्त अन्य महत्त्वपूर्ण तर्क भी हैं। क्या कुछ गौरांग और नीग्रो सैनिकों को बुद्धि-परीक्षा के आधार पर हम दोनों प्रजातियों की बुद्धि के साधारण स्तर पर प्रकाश डाल सकते हैं ? क्या ये बुद्धि-परीक्षाएं नीग्रो और गौरांग व्यक्तियों के वातावरण के प्रभाव को अलग करके केवल वंशानुसंक्रमण के प्रभाव का अध्ययन करती हैं ? इन महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का उत्तर नकारात्मक ही है।

यद्यपि बुद्धि-परीक्षण भी अवैज्ञानिक हैं तथापि उनकी अवैज्ञानिकता पर प्रकाश डालने के पूर्व यह आवश्यक है कि हम पैतृक प्रभावों पर भी विचार कर लें।

पैतृक

कुछ वैज्ञानिकों ने वंशानुसंक्रमण का प्रभाव दिखलाने के लिए प्रतिभाशाली व्यक्तियों के माता-पिता की बुद्धि और व्यवसाय का अध्ययन किया है। उनके अनुसार प्रतिभाशाली व्यक्ति राजघरानों, व्यापारियों के परिवारों में ही पाए जाते हैं। यह अध्ययन विशेष-रूप से अमेरिका के प्रमुख व्यापारियों की सामाजिक उत्पत्ति पर आश्रित है। उच्चकोटि के व्यापारियों में से 26 प्रतिशत बड़े व्यापारियों के बच्चे थे और 56.7 प्रतिशत बच्चे किसी-न-किसी प्रकार के व्यापारी के बच्चे थे जबकि केवल 12.4 प्रतिशत किसानों के बच्चे व्यापारी बन सके। 5 प्रतिशत क्लर्कों और 8 प्रतिशत कुशल श्रमिकों (Skilled Labour) व 2.2 प्रतिशत कौशलहीन श्रमिकों (Unskilled Labour) के बच्चे व्यापारी बन सके। इन तथ्यों के आधार पर टॉसिग और जास्लिन ने यह निष्कर्ष निकाला कि विभिन्न व्यावसायिक वर्गों की आय की असमानता का कारण उनकी आन्तरिक या पैतृक विशेषताओं की असमानता है न कि अवसरों की असमानता।

यह तो हुआ स्वस्थ वंशानुसंक्रमण का प्रभाव। अब हम वंशानुसंक्रमण के अस्वस्थ और स्वस्थ दोनों प्रकार के प्रभावों पर तुलनात्मक विचार करें। एक ओर कालीकाक (Kallikak) और ज्यूक्स (Jukes) के परिवारों का अध्ययन है और दूसरी ओर एडम्स (Adams), एडवर्डस् (Edwards) और साल्टन स्टॉल (Salton Stall) के परिवार का अध्ययन है। मार्टिन कालीकाक ने एक अत्यन्त मन्दबुद्धि की लड़की से विवाह किया। उसके एक लड़का पैदा हुआ, वह भी मन्दबुद्धि था। इस लड़के के 480 वंशजों का पता लगाया गया जिसमें 30 प्रतिशत क्षीण-बुद्धि के थे।

कुछ दिनों बाद मार्टिन ने एक दूसरा विवाह किया। इस विवाह से जो सन्तानें हुईं उनमें नीच और अधम व्यक्तियों का अभाव था। वास्तव में इस परिवार में सब सज्जन और प्रतिष्ठित नागरिक थे। जहां पर भी वे बसे उन्होंने यश और सम्मान प्राप्त किया।

ज्यूक्स (Jukes) नाम का एक व्यक्ति सन् 1720 ई॰ में न्यूयार्क में पैदा हुआ था। सन् 1877 ई॰ में इस व्यक्ति के 1200 वंशजों का अध्ययन किया गया। जिनमें 440 रुग्ण या विकलांग थे, 330 अपराधी थे और उनमें से जितनी भी स्त्रियां थीं वे प्रायः वेश्याएं थीं।

निर्धनता, नीचता और सामाजिक अधमता के इन दो प्रमुख अध्ययनों के विरोध में केवल एडवर्डस् के वंशजों का सुन्दर चित्र ही उपस्थित कर देना पर्याप्त है। सन् 1900 ई॰ में एडवर्डस् के 1394 वंशज पाए गए। उनमें से 295 ग्रेजुएट थे तथा अन्य व्यक्ति प्रतिष्ठित पदों पर आसीन थे, पर कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं मिला जो कि अधम या नीच हो।

इन अध्ययनों के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है कि मनुष्य की प्रतिभा का उदय वंशानुसंक्रमण द्वारा निश्चित होता है। यदि किसी वंश में प्रतिभाशाली व्यक्ति थे तो उनके वंशज अवश्य प्रतिभाशाली होंगे। यदि किसी वंश में पागल व मन्द-बुद्धि व्यक्ति होंगे तो उनके वंशज भी वैसे ही होंगे।

समालोचना

इन अध्ययनों की कटु समालोचना हुई है क्योंकि इन अध्ययनों के निष्कर्ष का आधार अवैज्ञानिक है।

(1) यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है कि एडवर्डस्, ज्यूक्स, कालीकाक आदि व्यक्तियों के वंशजों का अध्ययन पूर्ण है। जहां तक सम्भव हुआ है वंशजों का पता लगाने का प्रयत्न किया गया है, पर यह भी सम्भव है कि कुछ अप्रसिद्ध वंशजों का परिज्ञान न होने पाया है।

(2) इन व्यक्तियों के जिन वंशजों का अध्ययन किया गया है यदि उन व्यक्तियों को हम ज्ञात और अज्ञात दोनों प्रकार के वंशजों का प्रतिनिधि मान लें तो भी हमारी समस्या नहीं सुलझ सकती। इसका कारण यह है कि इन व्यक्तियों और इनके वंशजों में करीब 8 या 10 पीढ़ी का अन्तर है। क्या यह कहा जा सकता है कि अध्ययन किए गए वंशजों पर केवल ज्यूक्स, एडवर्डस् या कालीकाक का ही प्रभाव है ? वास्तव में पीढ़ी में नवीन वंशानुसंक्रमण का प्रभाव हुआ है।

(3) हमको यह ध्यान रखना चाहिए कि ज्यूक्स और एडवर्डस् के वंशजों में कोई भी दो व्यक्ति एक-दूसरे के अनुरूप न थे। इससे यह सिद्ध होता है कि एक

वंश के सदस्य होते हुए भी उनमें अन्तर था। इसलिए इन अन्तरों का कारण वंशानुसंक्रमण (Heredity) के अतिरिक्त अन्य ही कोई कारक हो सकता है।

(4) प्रत्येक व्यक्ति की उत्पत्ति में माता-पिता के केवल आधे-आधे ही पित्र्यैक आ पाते हैं। माता-पिता के पित्र्यैक का कैसा सम्मिलन होगा यह नहीं कहा जा सकता। फलतः अनेक उत्तम गुण माता-पिता में मिल सकते हैं और उनके बच्चों में इनका अभाव हो सकता है, एक पुरखे की प्रतिभा के स्थान पर उसके वंशज में अयोग्यता, मूर्खता और पागलपन हो सकता है।

(5) वंशानुसंक्रमण के समर्थक जब इन परिवारों के वंशजों का अध्ययन करते हैं तो वे इस बात को भूल जाते हैं कि वातावरण का भी प्रभाव इन वंशजों पर हो सकता है। क्या यह सत्य नहीं है कि एक निर्धन और बुद्धिहीन व्यक्ति अपने बच्चों का लालन-पालन उचित ढंग से नहीं कर सकता ? क्या यह सत्य नहीं है कि एक धनिक व्यक्ति को वे सारी सुविधाएं प्राप्त हैं जिनसे कि वह अपने बच्चों को उचित शिक्षा दिला सकता है ? क्या यह सत्य नहीं है कि इस दृष्टिकोण से इन दो प्रकार के परिवारों के वातावरणों में विभिन्नता थी ?

वातावरण

मनुष्य की बुद्धि पर वातावरण का क्या प्रभाव पड़ता है, इसका अध्ययन करने के लिए नियन्त्रित प्रयोगों की शरण ली गई। ऐसे प्रयोगों में यह आवश्यक था कि वंशानुसंक्रमण स्थिर रहे और वातावरण के प्रभाव को विभिन्न प्रकार से ज्ञात किया जाए। अतएव जुड़वां बच्चों (Twins) का अध्ययन अत्यन्त लाभकारी था। गाल्टन (Galton) ने इस प्रकार के अध्ययनों का पिछली शताब्दी में श्रीगणेश किया था। जुड़वां बच्चे दो प्रकार के होते हैं। एक तो वे जो कि माता के दो एक उत्पादक कोष्ठ के विभाजन से बनते हैं। और दूसरे वे जो माता के उत्पादक कोष्ठों से बनते हैं। जो जुड़वां बच्चे माता के एक ही निषिक्त (Fertilized) अंडकोष से बनते हैं, उनमें सामान्य पित्र्यैक (Genes) होते हैं। फलतः वंशानुसंक्रमण (Heredity) के कारक सामान्य होते हैं। यदि ऐसे जुड़वां बच्चों को विभिन्न वातावरणों में रखा जाए तो वातावरण का प्रभाव निश्चित रूप से ज्ञात हो सकता है। इसी आशय को लेकर जुड़वां बच्चों का अध्ययन हुआ है।

एक ही वातावरण में पले जुड़वां बच्चों का अध्ययन अत्यन्त रुचिकर है। डाओन नाम की एक स्त्री की पांच बहनें थीं जो कि माता के एक ही निषिक्त अंडकोष के विभाजन से बनी थीं। अतएव इनका वंशानुसंक्रमण (Heredity) सामान्य था तथा वे एक ही परिवार में पाली गईं। इसलिए साधारण रूप से यह भी

सामान्यतः स्वीकार कर लिया जाता है कि इनका वातावरण भी सामान्य था। जब ये बहनें तीन वर्ष की हुईं तो मनोवैज्ञानिकों ने इनकी सामाजिक सफलता (Social Success), सामाजिक जनप्रियता (Social Popularity) एवं सामाजिक रुचि (Social Interest) इन तीनों गुणों की परीक्षा की। इस परीक्षा का परिणाम निम्नलिखित है—

क्रम संख्या	बहनों के नाम	सामाजिक सफलता	सामाजिक जनप्रियता	सामाजिक रुचि
1.	एनेट	1.3	0.8	2.7
2.	सेसिल	1.3	1.2	1.8
3.	एमिली	0.9	1.0	0.6
4.	मेरी	0.9	0.7	0.4
5.	थूनी	1.8	1.6	1.0

उपर्युक्त अध्ययन से यह स्पष्ट है कि वातावरण और वंशानुसंक्रमण दोनों के सामान्य रहते हुए भी इन बहनों में मानसिक अन्तर बना रहा। इन बहनों का अध्ययन करने वाले विशेषज्ञ का कहना है कि एमिली को क्रोध बिल्कुल नहीं आता था, जबकि मेरी क्रोध की पुतली थी। एमिली को उन बातों से भय न लगता था, जिससे दूसरी बहनें भयभीत होती थीं। मेरी में भोलापन था। थूनी का व्यवहार बड़प्पन लिये हुए था।

वास्तव में इस अध्ययन ने वंशानुसंक्रमण तथा वातावरण की समस्या को और जटिल बना दिया, क्योंकि इस अध्ययन में दोनों प्रभाव साधारण रूप से समान ही हैं। पर इसके बावजूद इनकी बुद्धि में अन्तर है।

अन्य जुड़वां बच्चों का अध्ययन

तीन विभिन्न विज्ञानों के पण्डितों ने मिलकर 19 जुड़वां बच्चों को विभिन्न वातावरण में रखकर अध्ययन करने का प्रयत्न किया। इनमें से न्यूमैन जीव-वैज्ञानिक था, फ्रीमैन मनोवैज्ञानिक था और होल जिंजर, सांख्यक था। इन 19 जुड़वां बच्चों में से एक जोड़े के बच्चों के नाम मेरी (Mary) और मेबुल थे। इनमें से एक को नगर में रखा गया और दूसरे को गांव में। जब दोनों की बुद्धि-परीक्षा हुई तो नगर में पलने वाला बच्चा गांव में पलने वाले बच्चे की अपेक्षा अधिक बुद्धिमान निकला। इससे यह निष्कर्ष निकाला गया कि वातावरण का प्रभाव बुद्धि पर अधिक पड़ता है। इन तीनों विद्वानों ने अपने अध्ययन के निष्कर्ष को इन शब्दों में व्यक्त किया है कि 'शारीरिक लक्षणों' पर वातावरण का सबसे कम प्रभाव पड़ता है। जीवन की सफलता और विभिन्न कलाओं का ज्ञान वातावरण पर अधिक निर्भर करता है और मनुष्य के

व्यक्तित्व की विशेषताएं वातावरण द्वारा अधिकतम प्रभावित होती हैं।

इस अध्ययन ने वंशानुसंक्रमण के अनुयायियों के विरोध में अत्यन्त सफल तथ्यों को उपस्थित किया है और यह स्पष्ट कर दिया है कि पर्यावरण औ वंशानुसंक्रमण के पारस्परिक सम्बन्ध की समस्या जटिल है।

एक वातावरण के माता-पिता के विभिन्न बच्चों का अध्ययन

यद्यपि हम यह जानते हैं कि किन्हीं भी दो व्यक्तियों का वातावरण समान नह होता तथापि हम अनाथालयों और शिशु-बालक संस्थाओं के वातावरण के समान प्रभाव का अध्ययन कर सकते हैं। कुमारी बर्क्स ने अपने अध्ययन के आधार प यह सिद्ध किया कि मनुष्य की बुद्धि के विकास में वंशानुसंक्रमण का 80% औ वातावरण का 20% प्रभाव रहता है। उनका कहना है कि अच्छे परिवार का वातावरण बच्चे के बुद्धिफल को 20 अंश तक बढ़ा सकता है। इस अध्ययन के अतिरिक्त दूसरा अध्ययन 150 अज्ञात माता-पिता के बच्चों का था। इनको 6 मास की आयु से एक मकान में रखा गया। रक्त के द्वारा जिन 16 बच्चों के बारे में यह ज्ञात हुआ कि इनकी माताएं हीन-बुद्धि की होंगी, उनका प्रारम्भ में बुद्धिफल 75 था, पर दो वर्ष के बाद यह 116 हो गया और ढाई वर्ष बाद फिर 108 रह गया।

इन अध्ययनों के द्वारा कुछ विशेषज्ञ वंशानुसंक्रमण का प्रभाव हमारी बुद्धि पर अधिक बताते हैं और कुछ वातावरण का। वातावरण या वंशानुसंक्रमण के पारस्परिक सम्बन्ध में कुछ कहने के पूर्व वह आवश्यक है कि हम यह जान लें कि मनुष्य की बुद्धि को मापने वाली बुद्धि-परीक्षाएं वैज्ञानिक हैं या वैधानिक।

बुद्धि-परीक्षा इतनी अधिक अव्यवस्थित एवं अनिश्चित है कि एक ही व्यक्ति के बुद्धिफल में 10 दिन में ही अन्तर आ जाता है। इसके अतिरिक्त ये बुद्धि-परीक्षाएं हमारी जन्मजात शक्तियों की परीक्षा नहीं कर पातीं। यह केवल उस ज्ञान पर आधारित है जो कि हमें समाज से मिलता है। ये परीक्षाएं भाषा, गणित आदि विषयों पर आधारित होती हैं जिन्हें हम समाज द्वारा प्राप्त करते हैं। ये बुद्धि-परीक्षाएं वंशानुसंक्रमण और वातावरण के प्रभावों को एक-दूसरे से अलग नहीं कर सकतीं। इसलिए ये अधिक-से-अधिक ज्ञान की प्राप्ति की परीक्षा ले सकती हैं, न कि जन्मजात बुद्धि की।

लिंग-भेद का प्रभाव

साधारण रूप से यह विश्वास माना जाता है कि स्त्रियां स्वभावतः सहृदया होती हैं और भावुक होती हैं और पुरुष स्वभावतः कठोर और बुद्धिमान होते हैं। इन दोनों के स्वभाव में भेद लिंग के आधार पर होता है। स्त्रियों की मातृत्व-शक्ति उन्हें कोमल, दयालु और बुद्धिहीन बना देती है जबकि पुरुषों की विशेषताएं इससे बिल्कुल विपरीत

बन जाती हैं। स्त्रियां इसीलिए गान-विद्या, नृत्य-कला और साहित्य में अधिक प्रवीण होती हैं, जबकि पुरुष गणित और विज्ञान में अधिक कुशल होते हैं।

इस सामान्य विश्वास के विरोध में अनेक वैज्ञानिक अन्वेषण हुए हैं। डर्विन ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि लड़के और लड़कियों में शैशवावस्था में कोई भी व्यक्तित्व-सम्बन्धी अन्तर नहीं होता। इसके अतिरिक्त मारगेरेट मीड ने न्यूगाइना की अरापेश, मुंडगुमार और शाम्बुली—इन तीन वन्य-जातियों में लिंग और स्वभाव के पारस्परिक सम्बन्ध का अध्ययन किया है और उसने यह निष्कर्ष निकाला है कि अरापेश-वन्य-जाति में स्त्री और पुरुष दोनों का व्यक्तित्व समान है। दोनों सहयोगी, शान्त और दूसरों की सेवा के लिए सदैव तत्पर रहते हैं। मुण्डगुमार वन्य-जाति में स्त्री और पुरुष दोनों निर्दयी और आक्रमणकारी हैं और शाम्बुली वन्य-जाति में दोनों के स्वभाव और व्यक्तित्व में अन्तर है, पर हमारी संस्कृति से एकदम भिन्न हैं। इस वन्य-जाति में स्त्रियां शासक हैं और प्रबन्धक भी। पुरुष भावुक हैं, स्त्रियों पर निर्भर हैं और अनुत्तरदायी हैं। इसी प्रकार उत्तरप्रदेश की थारु वन्य-जाति का अध्ययन डा॰ मजुमदार ने किया है। उनके अध्ययन के अनुसार थारुओं में स्त्रियां शासन करती हैं। परिवार पर और समाज पर भी पुरुषों के व्यवहार का आदर्श, स्त्रियों का आज्ञापालन और पत्नीव्रत धर्म का निर्वाह है !

यदि हम भारतीय इतिहास से या साधारण दैनिक जीवन से ही कुछ उदाहरणों को लें तो यह बात अधिक स्पष्ट हो जाएगी। यद्यपि भारतीय संस्कृति के अनुसार पुरुषों को शक्तिशाली, व्यवहार-पटु, शासनकुशल और सफल प्रबन्धक होना चाहिए और स्त्रियों को बच्चों का पालन, पति की सेवा, सास-ससुर की आज्ञा का पालन आदि गृहिणी के गुणों को विकसित करना चाहिए, तथापि भारतीय इतिहास में इस प्रकार की स्त्रियां हुई हैं जिन्होंने राजनीति क्या और शासन क्या युद्ध में भी पुरुषों से लोहा लिया है और उनके दांत खट्टे कर दिए हैं। कैकेयी से लेकर अहमदनगर की चांद-बीबी, गोलकुण्डा की रानी दुर्गावती और झांसी की रानी लक्ष्मीबाई तक अनेक इस प्रकार की ललनाओं की वीरता भारतीय-इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित है। इसका कारण यह है कि उनको बचपन से ही इसी प्रकार की शिक्षा दी गई। यदि उनको भी तलवार और कटार के बजाय गुड़ियों और गुड्डों से बचपन में खिलाया जाता तो शायद आज उन्हें कोई भी न जानता। इसी प्रकार यदि किसी लड़के को लड़कियों की भांति पाला जाता है, तो उसका व्यवहार और आचरण लड़कियों का-सा हो जाता है। इसीलिए हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि मानव-प्रकृति अविश्वसनीय रूप से नमनीय है, और विभिन्न सांस्कृतिक परिस्थितियों के अनुसार सरलतापूर्वक बदल जाती है। एक संस्कृति के व्यक्तियों के व्यक्तित्व और व्यवहार की विभिन्नता की भांति अनेक संस्कृतियों के

असमान व्यवहारों की व्याख्या हम लालन-पालन के द्वारा ही कर सकते हैं। वास्तव में दोनों लिंगों के व्यक्तियों का आदर्श संस्कृति द्वारा निश्चित होता है, जिसके अनुसार प्रत्येक पीढ़ी के स्त्री-पुरुषों को व्यवहार करना पड़ता है।

उपर्युक्त अध्ययनों में कुछ अध्ययन वंशानुसंक्रमण पर बल देते हैं और कुछ अध्ययन-वातावरण पर बल देते हैं। इन दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध को बर्क्स ने तो गणित द्वारा नापने का प्रयत्न किया है। वास्तव में दोनों में से कौन अधिक महत्त्वपूर्ण है इसका पता लगाना व्यर्थ की विडम्बना है। दोनों हमारे जीवन से इतने अधिक घुले-मिले हैं कि हम यह नहीं कह सकते कि वंशानुसंक्रमण (Heredity) का प्रभाव अधिक पड़ता है या वातावरण का। सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक लम्ले (Lumly) इसीलिए सही कहता है कि यह प्रभाव न वंशानुसंक्रमण का है और न वातावरण का, बल्कि वंशानुसंक्रमण और वातावरण दोनों का।

एक शिशु का जन्म इस संसार में उन शारीरिक विशेषताओं के साथ होता है कि जो उसे माता-पिता से मिलती हैं। इस प्रारम्भिक शरीर से एक नवजात व्यक्ति भोजन द्वारा विकसित होता है। जो कुछ भी वह भोजन करता है उसे वह अपने शरीर में आत्मसात् कर लेता है और इस प्रकार भोजन ही केवल मनुष्य को बनाता है। वही भोजन सब बच्चों और मनुष्यों को मिलता है। इसमें थोड़ा-बहुत अन्तर भी हो सकता है, पर विभिन्न व्यक्तियों की शारीरिक एवं बौद्धिक विशेषताओं में जमीन-आसमान का अन्तर हो जाता है। इसका क्या कारण है। यह अन्तर उन निर्देशकों पर आश्रित है जिन्हें हम पित्र्यैक (Gene) कहते हैं। ये पित्र्यैक निश्चित करते हैं कि हमारा शरीर अपने भोजन का क्या उपयोग करेगा। मान लीजिए कि दो भाई-बहन हैं। भाई का रंग सांवला है और बहन का गोरा है। भाई के बाल घुंघराले हैं; बहन के सीधे व मुलायम बाल हैं। यह भाई-बहनों का अन्तर इसलिए है कि इनमें कुछ पित्र्यैक भिन्न हैं। पर यह भी हो सकता है कि कुछ दशाओं में भाई-बहनों के रंग में यह अन्तर हो, पर दूसरे वातावरण में यह अन्तर न रह पाए। मान लीजिए कि बहन प्रतिदिन कड़ी धूप में कार्य करती है क्योंकि उसका भाई बीमारी के कारण अस्पताल में है, जहां धूप नहीं आती। ऐसी दशा में बहन का रंग काला पड़ जाएगा और भाई का रंग पीला पड़ जाएगा। यह अन्तर पित्र्यैक और सूर्य दोनों पर निर्भर करता है। हमारे शरीर के आन्तरिक निर्देशक पूर्णरूप से अन्तरों को निश्चित नहीं करते, पर वे यह निश्चित करते हैं कि वातावरण की किसी वस्तु के कारण हमारे शरीर की क्या प्रतिक्रिया होगी।

इसी सिद्धान्त के आधार पर 'मिचुरिन' (Michurin) ने प्राचीन वंशानुसंक्रमण के सिद्धान्त का खण्डन किया है। शरीर और वातावरण का सम्बन्ध आत्मसात् की प्रक्रिया द्वारा होता है। इस प्रक्रिया द्वारा शरीर वातावरण के भागों को चुनता है और

उन्हें अपने शरीर का भाग बना लेता है। इसके फलस्वरूप जो विकास होता है वह इस बात पर निर्भर करता है कि एक व्यक्ति ने अपने माता-पिता से कितने और किस प्रकार के गुण प्राप्त किए और इस बात पर निर्भर करता है कि वातावरण से उसने क्या आत्मसात् किया है। मिचुरिन ने अपने अन्वेषण का निष्कर्ष इन शब्दों में व्यक्त किया है—'मेरे अध्ययनों ने यह विश्वास दिलाया है कि वंशानुसंक्रमण प्राचीन वातावरण का कुल योग है। मिचुरिन के इस निष्कर्ष का कारण यह है कि प्रत्येक व्यक्ति का शरीर अपने वातावरण के अनुसार अपना अनुकूल कार्य करता है। इस प्रकार प्रत्येक शरीर में वातावरण समा जाता है। यह वातावरण पित्र्यैकों द्वारा अगली पीढ़ी की सन्तानों को मिल जाता है।

वंशानुसंक्रमण और वातावरण का सम्बन्ध उसी प्रकार है, जैसा कि सिनेमा की फिल्म और उसके चित्र में होता है। फिल्म बिल्कुल शून्य होती है परन्तु यह वातावरण के प्रभाव को स्वीकार करने के लिए सदैव तत्पर रहती है। वंशानुसंक्रमण अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के मस्तिष्कों को पैदा करता है, जिनका दिमाग अच्छा माना जाता है वे वातावरण के प्रभाव को जल्दी ही स्वीकार कर लेते हैं। पर जिनका दिमाग निर्बल होता है वे कठिनता से सीख पाते हैं। इसके अतिरिक्त दूसरी प्रमुख बात यह है कि प्रतिभाशाली व्यक्ति को भी यदि एक पिछड़े हुए समाज में रखा जाए, जिसमें पत्थर के अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग होता हो तो निश्चय ही उसका ज्ञान बहुत पिछड़ा रह जाएगा। यदि उस व्यक्ति को आधुनिक मशीनयुग में पाला जाए तो हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि उसकी प्रतिभा निखर जाएगी। वास्तव में वंशानुसंक्रमण हमें विकसित होने का सामर्थ्य देता है, पर इन सामर्थ्यों के विकसित होने के अवसर भी वातावरण से ही मिल सकते हैं। वंशानुसंक्रमण हमें हमारी सक्रिय पूंजी देता है, वातावरण हमें इसके विनियोजन का अवसर देता है।

वातावरण और वंशानुसंक्रमण के घनिष्ठ सम्बन्ध को व्यक्त करने के लिए एक उदाहरण और आवश्यक है। हम साधारण रूप से यह कहते हैं कि गेहूं के बीज से केवल गेहूं का पौधा विकसित हो सकता है और सरसों के बीज से सरसों का ही पौधा विकसित हो सकता है पर एक किसान जब गेहूं बोने का निश्चय करता है तो उसके दिमाग में यह खयाल रहता है कि गेहूं के बीज की क्या आवश्यकताएं हैं और मैं उन आवश्यकताओं को पूरा कर सकता हूं या नहीं। वह जमीन की विशेषताओं को जानता है, खेत की जलवायु को तौलता है और अपने साधनों को आंकता है। इन सब कार्यों के लिए सर्वप्रथम आवश्यक गेहूं के बीज के वंशानुसंक्रमण का ज्ञान है और वातावरण के प्रभाव का आगणन (Estimate) है। इसलिए यह स्पष्ट है कि गेहूं के बीज का पौधे के रूप में विकास वंशानुसंक्रमण और वातावरण दोनों पर

आधारित है। अतएव लाइसेन्को (Lysenko) ने वंशानुसंक्रमण की परिभाषा को ही बदल दिया है। वह कहता है—"वंशानुसंक्रमण शरीर की वह विशेषता है जो कि अपने जीवन के लिए, अपने विकास के लिए और विभिन्न दशाओं में निश्चित रूप से प्रतिक्रिया के लिए निश्चित दशाओं (वातावरण) को चाहती है।"

वातावरण

जन्म के बाद बच्चा आन्तरिक तथा बाह्य दोनों प्रकार के वातावरण से प्रभावित होता है। माता-पिता, भाई-बहन, परिवार-पाठशाला, समुदाय-समाज, पेड़-पौधे, नदी, पर्वत, सूर्य आदि बाह्य वातावरण का निर्माण करते हैं। यह वातावरण दो प्रकार का होता है—सामाजिक और भौतिक, परिवार तथा सदस्य, टोला-मुहल्ला, सामाजिक संस्थाएं आदि सामाजिक कहलाती हैं और सूर्य, पर्वत, नदी आदि भौतिक वातावरण के अन्तर्गत आते हैं। वातावरण के प्रभाव के परिणामस्वरूप बालक का निर्माण किस प्रकार होता है—यहां हम आज के युग के महान् व्यक्ति और भारत के प्रधानमन्त्री पं॰ जवाहरलाल का दृष्टान्त देना उपयुक्त समझते हैं।

पं॰ मोतीलाल नेहरू भारत के प्रसिद्ध वकील और देशभक्त के रूप में गिने जाते थे। पं॰ जवाहरलाल उन्हीं के बड़े पुत्र थे। इनसे छोटी दो बहनें थीं। परिवार में नौकर-चाकरों के अतिरिक्त अन्य सगे-सम्बन्धियों का आना-जाना लगा रहता था। जिन दिनों बालक जवाहरलाल का समय खेल-कूद और इधर-उधर के कामों में व्यतीत हो रहा था, उन्हीं दिनों पं॰ मोतीलाल नेहरू की मित्रता भारत के बड़े-बड़े अंग्रेज अफसरों और गवर्नरों आदि से थी। उनके यहां हमेशा इन लोगों का जमघट लगा रहता था। विद्वान् वकील और रईसों से उनका दरबार भरा रहता था। इन लोगों के बीच बेखटके और बिना किसी संकोच के बालक जवाहरलाल का आना-जाना, उनसे मिलना और बात-चीत करना लगा रहता था। पं॰ मोतीलाल नेहरू चाहते थे कि उनका बेटा निडर और हर विषय को जानने वाला बने। निडर वह इसलिए बनाना चाहते थे कि दुनिया का सबसे बड़ा दुश्मन भय है।

एक बार बालक जवाहरलाल अपने अन्य मित्रों के साथ यमुना नदी के पास घूम रहे थे। आगे-आगे कुछ अंग्रेज लड़के हिन्दुस्तानियों को छेड़ते और शरारत करते हुए जा रहे थे। अंग्रेजों के लड़के हिन्दुस्तानी लड़कों के पैरों में पीछे से जोर से ठोकर मारते और हंसकर कहते 'आई एम सॉरी', बालक जवाहरलाल को अंग्रेज बालकों की यह शरारत खटक रही थी और उनका हृदय अंग्रेजों के लड़कों से बदला लेने के लिए तड़प रहा था। धीरे-धीरे बालक जवाहरलाल उनके पास आए और जिस प्रकार अंग्रेज लड़के हिन्दुस्तानियों के पैरों में पीछे से ठोकर मारते थे ठीक उसी प्रकार बालक

जवाहरलाल ने एक जोर की ठोकर उस अंग्रेज लड़के के पैर में जमाई और मुस्कराकर ठीक उसी प्रकार के लहजे में कहा—'आई एम सॉरी।' अंग्रेज लड़के तिलमिलाकर रह गए। बालक जवाहरलाल, अपने साथियों के साथ घूमते हुए अपने घर आ गए। जवाहरलाल का यह साहसिक कार्य उनके घरेलू वातावरण, विशेषकर मां-बाप के रहन-सहन के तरीकों के कारण आया, अन्यथा वह समय ऐसा था कि अंग्रेजों की तूती बोलती थी, उनके लिए न तो कोई कानून था और न उनके लिए किसी प्रकार के न्याय-अन्याय के कार्यों का लेखा-जोखा रहा करता था। वातावरण के प्रभाव ने बालक जवाहरलाल को न केवल निडर बनाया बल्कि अन्याय के प्रति सजग रहने और उससे अपनी तथा अन्य की रक्षा करने की भी भावना का उनमें उदय हुआ। इसी प्रकार जब बालक जवाहरलाल पढ़ने के लिए लन्दन गए तो शीघ्र ही अपनी निडरता और बुद्धिचातुर्य के कारण अपने कॉलेज में प्रसिद्ध हो गए। विद्यार्थी-जीवन में ही संघटन की प्रवृत्ति जागृत होने लगी और लन्दन में उन दिनों जितने भी भारतीय युवक शिक्षा प्राप्त कर रहे थे उनका एक संघटन बनाया और प्रत्येक रविवार को आपस में मिलने, विचार-विमर्श करने तथा अन्य बातों पर बातचीत करने की परम्परा बनाई।

पं. मोतीलाल नेहरू उन दिनों इलाहाबाद की अनेक सार्वजनिक संस्थाओं का संचालन करते थे और उनकी मीटिंगें बराबर अपने घर पर होते हुए बालक जवाहरलाल देखा करते थे। अस्तु, जहां उन्हें अवसर मिला अपनी उस सीखी हुई और देखी हुई आदत का प्रयोग उसी रूप में करना शुरू कर दिया। यह वातावरण का असर था जो बालक जवाहरलाल को हर क्षेत्र में विकास करने और आगे बढ़ने का अवसर दिया। पं. मोतीलाल नेहरू ने अपने साथ बालक जवाहरलाल को पूरे योरुप का भ्रमण कराया और ऐसे वातावरण की छाप उन पर डाली कि वह आज एक आदर्श पुरुष के रूप में माने जाते हैं और दुनिया उनके हरएक कार्य को बड़ी गम्भीरता और उत्सुकता से देखती है।

अन्त में हम केवल इतना कहना चाहते हैं कि जीवन के विकास के लिए वंशानुसंक्रमण और वातावरण दोनों की आवश्यकता है, पर यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि वातावरण या वंशानुसंक्रमण की कितनी-कितनी देन है। वंशानुसंक्रमण हमें केवल कुछ-कुछ शक्तियां प्रदान करता है, मगर इनमें से कौन-सी शक्ति विकसित हो जाएगी और किस रूप में विकसित हो जायेगी, यह वातावरण पर निर्भर है। वंशानुसंक्रमण हमें भोजन की आवश्यकताएं प्रदान करता है, पर यह निश्चित नहीं करता कि हम शाकाहारी बनें या मांसाहारी। वंशानुसंक्रमण हमें यौन-संबंधी आवश्यकताएं प्रदान करता है, पर ये आवश्यकताएं किस प्रकार पूरी होंगी यह सामाजिक वातावरण पर निर्भर करता है।

शारीरिक विकास

शारीरिक-विज्ञान के अन्तर्गत गर्भाधान से लेकर प्रौढ़ावस्था तक के विकास को इतना महत्त्व दिया जाता है कि इस विषय पर शरीर-विज्ञानवेत्ताओं ने अनेक पुस्तकों का निर्माण कर डाला है। वस्तुतः शारीरिक विकास एक ऐसा विषय है जो बाल-विकास के क्षेत्र में प्रत्यक्षतः नहीं आता; परन्तु मानसिक और शारीरिक विकास-सम्बन्धी केवल उन्हीं बातों पर संक्षेप में विचार किया जाएगा जिनका मानसिक विकास से सीधा सम्बन्ध होता है।

शारीरिक विकास का साधारण रूप वंशानुक्रम द्वारा निर्धारित होता है और वातावरण द्वारा उसमें विभिन्न प्रकार का सुधार आना सम्भव होता है। शारीरिक विकास इतने स्वाभाविक रूप से चलता रहता है कि उस पर हम कदाचित् ही कभी विशेष ध्यान देते हैं। हम यह कभी नहीं सोच पाते कि हमारे जीवन-काल का लगभग तृतीयांश शारीरिक विकास में चला जाता है। विगत तीस वर्षों में शारीरिक विकास तथा उसके सिद्धान्तों के विषय में बड़े अन्वेषण किए गए हैं और उनसे बड़ी नई-नई बातें प्रकाश में आई हैं। इन नई-नई बातों के समुचित ज्ञान के बिना माता-पिता और अध्यापक बालकों के पथ-प्रदर्शन में पूर्णरूपेण सफल नहीं हो सकते। परन्तु इस अध्याय का तात्पर्य इन विषय-अन्वेषणों के फल से पाठकों को आश्चर्यचकित नहीं करता है, वरन् बालक के मानसिक और व्यक्तित्व-विकास के सम्बन्ध में शारीरिक विकास के महत्त्व पर थोड़ा प्रकाश डालता है।

शारीरिक और मानसिक विकास में दो प्रकार का सम्बन्ध

शारीरिक और मानसिक विकास में दो प्रकार के सम्बन्ध का उल्लेख किया जा सकता है। वे प्रकार ये हैं—

1. मानसिक विकास के कई अंग शारीरिक विकास पर स्वभावतः निर्भर करते हैं।

2. किसी शारीरिक अंग के कुंठित विकास से मानसिक विकास केवल अवरोधित ही नहीं होता, वरन् उसके फलस्वरूप बालक में कुछ 'अवांछित असामान्य व्यवहार' भी देखे जा सकते हैं।

इन दोनों प्रकार के तात्पर्य की ओर नीचे संकेत किया जा रहा है—

साधारण शारीरिक विकास

साधारणतः लोगों की यह धारणा है कि शारीरिक और मानसिक विकास एक-दूसरे की विपरीत दिशा पर चलते हैं, अर्थात् यदि कोई व्यक्ति शरीर से हृष्ट-पुष्ट है तो वह प्रायः अति साधारण अथवा मन्दबुद्धि का होता है और जो उत्कृष्ट बुद्धि का होता है उसका शारीरिक विकास अच्छा नहीं होता है। परन्तु इस धारणा के समर्थन में कोई वैज्ञानिक प्रमाण नहीं मिलता। इसके विपरीत, बहुत-से ऐसे प्रमाण मिलते हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि बचपन में शारीरिक और मानसिक विकास में सह-सम्बन्ध होता है; अर्थात् अच्छे शारीरिक विकास के साथ मानसिक विकास भी प्रायः उतना ही अच्छा चलता है। प्रतिभाशाली व्यक्तियों सम्बन्धी अपने अध्ययन में टरमैन ने यह देखा कि मन्द मानसिक विकास वाले बालकों का शारीरिक विकास भी मन्द गति से चलता है।

बालक में संवेगात्मकता के विकास का उसमें दांत आने से घनिष्ठ सम्बन्ध दिखलाई पड़ता है तभी तो 6 महीने से ढाई वर्ष की उम्र के अन्तर्गत दांतों के आने के साथ बालक विभिन्न प्रकार का संवेगात्मक व्यवहार दिखलाता है। पाठकों ने यह देखा होगा कि दांत आने के समय बालक कुछ अस्वस्थ दिखलाई पड़ता है और वह बड़ा चिड़चिड़े स्वभाव का हो जाता है। तरुणावस्था में भी व्यक्ति में स्नायविक निर्बलता तथा संवेगात्मकता दिखाई पड़ती है। यह भी उस समय शरीर में होने वाले परिवर्तन के फलस्वरूप ही होता है कैम्बवेल ने तैंतीस शिशुओं का अध्ययन कर यह दिखलाया है कि शरीर के तौल का बालक के बैठने, रेंगने तथा चलने पर क्या प्रभाव पड़ता है। उन्होंने देखा कि जिन शिशुओं का शारीरिक विकास द्रुतगति से होता था उनका व्यवहार-सम्बन्धी विकास भी द्रुतगति से चलता था। बालकों का खेल-सम्बन्धी विकास सभी अवस्था में उनके शारीरिक और मानसिक विकास पर निर्भर करता है। शरीर के आकार तथा मांसपेशियों की शक्ति आदि पर यह निर्भर करता है कि बालक अपनी उम्र के अन्य बालकों के साथ कैसे खेलों में भाग लेगा। बुद्धि का विकास मस्तिष्क के आकार तथा तौल पर बहुत हद तक निर्भर करता है।

बालक के शारीरिक विकास का उसके सामाजिक विकास से घनिष्ठ सम्बन्ध है। छोटे कद का अथवा शरीर से निर्बल होने के कारण बालक बड़ों के सामने लज्जा का अनुभव कर सकता है तथा अपनी उम्र के अन्य स्वस्थतर बालकों के सामने उसके मन में आत्महीनता की भावना आ सकती है। शरीर की स्थूलता का व्यक्तित्व पर पड़े प्रभाव का ब्रूश ने इस प्रकार विश्लेषण किया है—'जब बालकों को अपने माता-पिता अथवा अभिभावकों से समुचित प्यार या संवेगात्मक सन्तोष नहीं मिलता तो वे अपनी चिन्ता तथा उत्तेजित प्रवृतियों की शान्ति के लिए अत्यधिक भोजन करने

की आदत में आ जाते हैं। यह देखा भी जाता है कि ऐसे लड़के बहुधा भूख के नाम पर असमय पर खाने की मांग किया करते हैं। स्थूल बालक में स्फूर्ति नहीं होती। अतः अपने साथियों के साथ ठीक से खेलने में उसकी रुचि नहीं रहती। इसका फल यह होता है कि उनमें बहुत से आवश्यक सामाजिक गुणों का अभाव रह जाता है।

कुण्ठित शारीरिक विकास

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि कुण्ठित शारीरिक विकास का मानसिक विकास पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता है। जो बालक कण्ठ-ग्रन्थि से पीड़ित रहता है, उसका शारीरिक तथा मानसिक विकास धीमा पड़ जाता है। बहरेपन, अन्धेपन तथा निर्बल हृदय के कारण बालक अन्य वालकों के साथ स्फूर्तिदायक खेलों में भाग नहीं लेता। फलतः बालक का सामाजिक विकास समुचित रूप से नहीं चल पाता और इसका प्रभाव उसके सारे व्यवहार पर पड़ता है। दूसरे बालक भी ऐसे बालक की ओर कुछ हेय दृष्टि से देखते हैं। वे उसे चिढ़ाते हैं, उसकी अवहेलना करते हैं अथवा उसके प्रति सहानुभूति दिखलाते हैं। चिढ़ाने, अवहेलना तथा सहानुभूति का बालक के व्यक्तित्व पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। मैक्सफील्ड और फेल्ड का कहना है कि अंधापन छोटे बालकों को अन्य समान सामान्य बालकों की अपेक्षा सुस्त तथा कम आत्मनिर्भरता वाला बनाता है। बहरेपन से उनके अनुसार लड़के कुछ मूर्ख दिलखाई पड़ते हैं। बहरे लड़के भाषा-सम्बन्धी सभी विषयों के पढ़ने में कमजोर हो जाते हैं, क्योंकि भाषा-ज्ञान के कम होने के कारण उन्हें समझने में बड़ी कठिनाई होती है।

बालक जो कुछ सोचता है, अनुभव करता है तथा कहता है वह उसके शारीरिक विकास पर इतना अधिक निर्भर करता है कि यह कहा जाता है कि बालक अपने शारीरिक विकास की अवस्थानुसार ही व्यवहार करता है। इस प्रकार बालक के व्यवहार-विकास पर उसकी उम्र का उतना प्रभाव नहीं पड़ता जितना कि उसके शारीरिक विकास का पड़ता है।

शारीरिक विकास के अध्ययन की विधियां

शारीरिक विकास के अध्ययन के लिए दो विधियों का प्रयोग किया जाता है—

1. पहली विधि में साल-साल पर उसी बालक का बार-बार अध्ययन किया जाता है और इस प्रकार उसकी विकास-गति को समझने की चेष्टा की जाती है। इस विधि को अंग्रेजी में 'लॉङ्गी ट्यूडिनल मेथड' कहते हैं।

2. दूसरी विधि में विभिन्न उम्रों के लिए विकास की दृष्टि से एक प्रतिमान

निर्धारित करने के हेतु विभिन्न उम्र के व्यक्तियों के बड़े समूह का अध्ययन किया जाता है। इस विधि को अंग्रेजी में 'हारीजेन्टल या क्रास सेक्शन मेथड कहते हैं। प्रतिमान को अत्यधिक प्रमाणित बनाने के लिए इस विधि में किसी उम्र के बहुत-से व्यक्तियों का अध्ययन किया जाता है, जिससे विविध व्यक्तियों की विभिन्नताओं का निष्कर्ष पर कम-से-कम प्रभाव पड़े। आजकल पहली विधि के अनुसार अधिक कार्य किया जाता है। इस विधि में बहुत से बालकों के समूह की कुछ वर्ष तक नियमित मध्यान्तर पर परीक्षा की जाती है। इस प्रकार विकास-सम्बन्धी निष्कर्ष अधिक प्रामाणिक होता है। शटलबर्थ ने इसी विधि की श्रेष्ठता सिद्ध की है। उसने देखा कि 12 वर्ष तक 248 व्यक्तियों के बार-बार परीक्षण करने से जो निष्कर्ष निकलता है उसकी प्रामाणिकता दूसरी विधि से 2,70,000 व्यक्तियों पर परीक्षण से प्राप्त निष्कर्ष के सामान थी। अतः पहली विधि अधिक प्रामाणिक निष्कर्ष देती है। इसमें वैयक्तिक वैभिन्त्य को अधिक अच्छी तरह समझा जा सकता है और विकास की सामान्य गति का भी इससे अच्छा संकेत मिलता है।

दूसरी विधि से किसी समूह, जाति, जनसंख्या तथा स्त्री अथवा पुरुष-वर्ग के विकास के साधारण रुख का पता लगाया जा सकता है। पहली विधि से विभिन्न काल में अपने ही विकास से व्यक्ति के साधारण विकास का रुख समझना सम्भव होता है। इस प्रकार उसके समूह-विशेष से भी उसकी तुलना की जा सकती है। पहली विधि के अनुसार शारीरिक विकास के अध्ययन से यह पता चलता है कि विकास की गति एक चक्र के अनुसार चलती है। इस चक्र-गति में कभी विकास द्रुतगति से चलता है और कभी उसकी चाल धीमी पड़ जाती है। पहली विधि के अनुसार अपने सात वर्ष के 'हारवर्ड ग्रोथ स्टडी' के फलस्वरूप 'राथनी' का कथन है कि यह जोरदार शब्दों में कहा जा सकता है कि जन्म से प्रथम दो वर्ष तक विकास बड़ी ही द्रुतगति से चलता है, और तरुणावस्था आने के तीन वर्ष तक विकास की गति चलती रहती है, पर प्रथम दो वर्ष के काल की तरह विकास-गति तीव्र नहीं होती है। परन्तु 16वें और 19वें वर्ष के बीच इसकी गति कुछ धीमी हो जाती है। लड़के और लड़कियों दोनों की विकास-गति प्रायः समानान्तर चलती है; परन्तु किशोरावस्था के पास दोनों की गतियों में भेद आ जाता है।

पहली विधि के अनुसार अपने अध्ययन के आधार पर 'कोर्टिस' ने विकास की नीचे लिखी चार अवस्थाओं का उल्लेख किया है—

1. जन्म के पूर्व गर्भाशय में।

2. प्रथम पांच या छः वर्षों तक शैशव। इस अवस्था में विभिन्न ज्ञानेन्द्रियां क्रियाशील हो जाती हैं और बच्चा रेंगना, चलना और बात करना सीख लेता है।

3. लगभग पांच वर्ष से बारह वर्ष तक बचपन। इस काल में स्थायी दांत आ जाते हैं। बच्चा पढ़ना, लिखना और कुछ हद तक अपनी देख-रेख करना सीख लेता है। इस प्रकार के विकास के कारण व्यक्तित्व पर बड़ा प्रभाव पड़ता है।

4. साधारणतः 12 से 18 वर्ष तक किशोर। इस काल में जननेन्द्रियों का पूर्ण विकास हो जाता है। इस विकास से व्यक्ति में संवेगात्मक सामाजिक तथा अन्य व्यक्तित्व-सम्बन्धी गुणों में क्रांतिकारी परिवर्तन आते हैं।

कोर्टिस के अनुसार इन विविध अवस्थाओं का ऊंचाई, तौल, हड्डियों, बुद्धि, ज्ञानप्राप्ति, खेल में रुचि तथा सामाजिक क्रियाशीलताएं आदि के विकास से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

विकास चक्र

विकास का रूप सदा किसी एक नियम के अनुसार नहीं चलता, अर्थात् बालक की तौल वर्ष-भर में किसी निश्चित रूप में नहीं बढ़ती। किसी वर्ष अधिक बढ़ती है और किसी वर्ष कम। वस्तुतः विकास का एक चक्र अथवा लहर होती है। यदि विकास की गति किसी समय तीव्र हुई तो बाद में वह अवश्य कुछ धीमी पड़ जाती है, क्योंकि सुसंगठन के लिए अवयवों विशेष को कुछ समय की आवश्यकता होती है। मेरिडिथ ने 1243 बालकों के अध्ययन में विकास के चार चक्रों को पाया। उसके अनुसार प्रथम दो वर्ष तक विकास का एक ऐसा काल होता है जब विकास बड़ी ही द्रुतगति से चलता है। दूसरे से 11वें वर्ष तक विकास की गति धीमी रहती है। ग्यारहवें से 15वें वर्ष तक विकास फिर पहले की तरह द्रुतगति से चलता है। फिर 15वें या 16वें से 18वें वर्ष तक विकास की गति धीमी पड़ जाती है। जैसा ऊपर कहा गया है कि विकास-चक्र में बड़ा वैयक्तिक पाया जाता है।

शरीर के प्रत्येक अंग के विकास का अपना-अपना नियम होता है। प्रत्येक अंग के द्रुततम विकास का समय भिन्न-भिन्न होता है और प्रत्येक के विकास की चरम सीमा अलग-अलग समय पर पहुंचती है। मांसपेशियां, हड्डियां, फेफड़े तथा जननेन्द्रियां अपने विकास-काल में अपनी पूर्व अवस्था से बीस गुना बढ़ती हैं। आंखें, मस्तिष्क तथा कुछ अन्य अवयव इतना अधिक नहीं बढ़ते, क्योंकि जन्म के समय वे अपेक्षाकृत अधिक विकसित रहते हैं। उदाहरणार्थ, आंख की पुतली प्रथम पांच वर्षों में अपने अन्तिम स्वरूप पर आ जाती है। शरीर के ऊपरी अंगों का विकास अपेक्षाकृत शीघ्रता से होता है और वे अपनी परिपक्वावस्था पर जल्दी आते हैं। अतः मस्तिष्क और चेहरा आदि ऊपरी अंग धड़ तथा हाथ-पैर की अपेक्षा जल्दी बढ़ते हैं।

अध्ययन के आधार पर देखा गया है कि जुलाई से जनवरी के अन्दर तौल बहुत बढ़ती है। फरवरी से अप्रैल तक तौल के इस बाढ़ का प्रायः एक चौथाई ही बढ़ पाता

है। गई और जून के महीने में तौल का बाढ़ अन्य महीनों से बहुत कम होती है। ऊंचाई के सम्बन्ध में एक दूसरा ही नियम दिखाई पड़ता है। अप्रैल से अगस्त के अन्दर ऊंचाई सबसे अधिक बढ़ती है। अगस्त से नवम्बर के अन्दर ऊंचाई की बाढ़ कम होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि तौल और ऊंचाई की बाढ़ की गति एक-दूसरे के विपरीत चलती है।

तौल की बाढ़

जन्म के समय एक सामान्य शिशु की तौल 5 से 8 पौण्ड के अन्तर्गत होती है। साधारण जन्म के समय लड़कियां लड़कों से हल्की होती हैं। जन्म के बाद प्रथम सप्ताह में शिशु की तौल कुछ घट जाती है, क्योंकि नए प्रकार के भोजन तथा वातावरण के प्रति व्यवस्थित होने में उसे कुछ समय लगता है। प्रथम महीने के अन्त तक शिशु अपना खोया हुआ तौल पाकर उसमें कुछ बाढ़ भी दिखलाता है। चौथे महीने के लगभग जन्म से तौल दुगुनी हो जाती है, अर्थात् इस समय शिशु की तौल 14 पौण्ड के लगभग होनी चाहिए। आठवें महीने पर शिशु की सामान्य तौल 16 से 19 पौण्ड के अन्तर्गत होती है। जिन शिशुओं को मां का दूध पीने को नहीं मिलता उनकी तौल प्रथम आठ महीने में सामान्यतः कुछ कम होती है। प्रथम वर्ष के अन्त में उसकी तौल जन्म से लगभग तिगुनी, अर्थात् 21 पौण्ड सामान्यतः होनी चाहिए। इस प्रकार प्रथम वर्ष के अन्तिम चार महीनों में जो तौल में विशेष बाढ़ नहीं होती उसका कारण यह है कि इस समय शिशु अपनी जागृतावस्था को अधिकांशतः रेंगने तथा चलने आदि सीखने में देता है, और शारीरिक परिश्रम में उसकी मांसपेशियों की मोटाई अनुपात की दृष्टि से पहले से कुछ कम ही हो जाती है। दूसरे और तीसरे वर्ष के अन्तर्गत सामान्यतः प्रतिवर्ष 3 से 5 पौण्ड के अन्तर्गत तौल में बाढ़ होती है। इसका अर्थ यह हुआ कि दो वर्ष के शिशु को 22 और तीन वर्ष वाले को 29 या 30 पौण्ड का होना चाहिए। जन्म के समय जो शिशु साधारणतः तौल से अधिक होते हैं वे प्रथम तीन वर्ष के अन्तर्गत तौल में सामान्यतः कुछ अधिक होते हैं।

छः वर्ष की उम्र पर बच्चे की तौल जन्म से पांच गुनी अर्थात् 35 और 40 पौण्ड के अन्तर्गत होनी चाहिए। नौ वें या दसवें वर्ष के प्रारम्भ में लड़कियों की तौल में बाढ़ की गति द्रुतगति से बढ़ती है और बारह वर्ष पर गति अपनी द्रुतता की चरम सीमा पर पहुंच जाती है और इस समय प्रतिवर्ष लगभग 14 पौण्ड की बाढ़ उसमें होती है।

लड़कों में तौल की सबसे अधिक बाढ़ लगभग 14 वर्ष में आती है और उसमें प्रायः 15 पौण्ड प्रतिवर्ष के हिसाब से बाढ़ होती है। चौदह वर्ष के बालक की औसत तौल लगभग 95.4 पौण्ड और 16 वर्ष के होने पर उसकी औसत तौल 116.7 पौण्ड होती है। किशोरावस्था के अन्तिम वर्षों में जो बाढ़ होती है वह मांसपेशियों तथा

अस्थि-पंजर के विकास पर निर्भर करती है।

11वें वर्ष से 14वें वर्ष तक के काल को छोड़कर अन्य समय लड़के लड़कियों से प्रायः तौल में अधिक होते हैं। इस काल में लड़कियों की तौल में अत्यधिक बाढ़ उनमें तरुणावस्था के आगमन के कारण होती है।

ऊंचाई की बाढ़

जन्म के समय शिशु की ऊंचाई लगभग 19 या 20 इंच रहती है। वंशानुसंक्रमण, स्त्री या पुरुष-भेद तथा किसी जाति विशेष के कारण इस औसत ऊंचाई से जन्म के समय शिशु की ऊंचाई कुछ अधिक या कम हो सकती है। प्रथम दो वर्षों में ऊंचाई बहुत बढ़ती है। प्रथम चार महीने में शिशु लगभग 2½ या 3½ इंच बढ़ जाता है और 22 या 23 इंच का हो जाता है। आठ महीने पर उसकी ऊंचाई 25 या 27 इंच के करीब होनी चाहिए। एक वर्ष पर उसकी ऊंचाई 27 और 29 इंच के अन्तर्गत आती है। दूसरे वर्ष में उसकी ऊंचाई लगभग 4 इंच बढ़ जाती है। तीसरे से छठे वर्ष में ऊंचाई में बाढ़ की गति द्रुत नहीं रहती। इस काल में प्रतिवर्ष लगभग 3 इंच लम्बाई बढ़ती है। इस प्रकार 6 वर्ष की अवस्था पर बच्चे की उम्र बचपन से लगभग दूनी अर्थात् 40 इंच होती जाती है।

तरुणावस्था आने के पूर्व, अर्थात् 10वें और 12वें वर्ष के अन्तर्गत ऊंचाई की बाढ़ कम होती है, परन्तु यह बाढ़ नियमतः चलती रहती है। बारह वर्ष की अवस्था में बच्चा जन्म से 2¾ गुना ऊंचाई में बढ़ जाता है, अर्थात् वह 55 इंच के लगभग हो जाता है। इससे 14 वर्ष की उम्र में लड़कियों का और 12 से 14 वर्ष की उम्र में लड़कों का सभी दृष्टि से शारीरिक विकास बड़ी द्रुतगति से चलता है। इसके बाद 18 या 20 वर्ष तक विकास बड़ी धीमी गति से चलता है। इसी समय ऊंचाई की अन्तिम सीमा पहुंच जाती है।

'साइमन्स' का कहना है कि शैशव अथवा पूर्ण कैशोर में भावी ऊंचाई का अनुमान करना अत्यन्त कठिन है। उसने देखा कि लड़के 15वें अथवा 20वें वर्ष में प्रौढ़ व्यक्ति की ऊंचाई पा सकते हैं, और लड़कियां 14वें या 18वें वर्ष में अपनी अन्तिम ऊंचाई पा सकती हैं। लड़के या लड़कियां कितनी लम्बी होंगी यह प्रायः उनके वंशानुसंक्रमण पर निर्भर करता है। तथापि एक पुरुष की औसत ऊंचाई 66 इंच और एक स्त्री की 60 इंच मानी जानी जा सकती है।

जन्म से लगभग 21 वर्ष तक लड़के लड़कियों से प्रायः लम्बे होते हैं। बारहवें वर्ष में लड़कियां लड़कों से कुछ अधिक ऊंची ही जाती हैं। पन्द्रह वर्ष की अवस्था में प्रायः दोनों समान ऊंचाई के हो जाते हैं। इसके बाद लड़के लड़कियों से ऊंचाई

में बढ़ जाते हैं और विकास-काल में सदा बढ़े ही रहते हैं। जो बालक कैशोर के पूर्व ही औसत ऊंचाई से लम्बे लगते हैं वे प्रौढ़ावस्था में भी औसत से ऊंचे होते हैं और जो कैशोर के पूर्व छोटे कद के जान पड़ते हैं वे प्रौढ़ावस्था में भी छोटे कद के होते हैं। इस प्रकार कैशोर के पूर्व और उत्तर अवस्था की ऊंचाई में एक निश्चित सम्बन्ध दिखलाई पड़ता है। जो लड़कियां कैशोर में शीघ्र आ जाती हैं वे अपेक्षाकृत शीघ्रता से अपनी प्रौढ़ावस्था पर पहुंचती हैं। जो लड़की 13 वर्ष की उम्र के पहले ही रजस्वला हो जाती है वह 13 वर्ष के बाद रजस्वला होने वाली लड़कियों से लम्बाई में प्रायः 10 वर्ष से 14वें वर्ष तक ऊंची रहती है।

बच्चे की ऊंचाई पर जाति अथवा वंशानुक्रम का काफी प्रभाव पड़ता है। महाराष्ट्री बालकों की औसत ऊंचाई प्रायः कम होती है और पंजाबी बालकों की औसत ऊंचाई अधिक होती है। ऐसा जाति-मिश्रण तथा वंशानुक्रमीय गुणों के कारण ही होता है। इसी प्रकार उत्तर-योरुपीय प्रदेशों के माता-पिता के बच्चे दक्षिणी योरुपीय प्रदेशों के माता-पिता के बच्चे से कुछ अधिक लम्बे होते हैं। सामाजिक तथा आर्थिक अवस्था का भी प्रभाव पड़ता ही है। अतः गरीब घरों के बच्चों की औसत ऊंचाई अच्छे घरों के बच्चों से कम होती है। मजदूर वर्ग के बच्चे प्रायः व्यावसायिक वर्ग के बच्चों से दुर्बल और छोटे कद के होते हैं। विभिन्न सामाजिक-आर्थिक स्थिति से आए हुए बालकों की ऊंचाई की तुलना में मेरिडिथ जैसे वैज्ञानिकों का मत है कि मजदूर वर्ग के बच्चे व्यावसायिक वर्ग के बच्चों से ऊंचाई से लगभग ¾ इंच कम थे।

ऊंचे रहन-सहन का प्रभाव

प्रारम्भिक दिनों में अत्यधिक पौष्टिक भोजन का भी ऊंचाई और तौल की बाढ़ पर प्रभाव पड़ता है। 'बाडल्सा' की गणना के अनुसार हारवर्ड के विद्यार्थियों की वर्तमान पीढ़ी अपने पिता की अपेक्षाकृत $1\frac{1}{3}$ इंच अधिक लम्बी और 10 पौण्ड अधिक तौल में है। चार पूर्वीय कॉलेजों के विद्यार्थी अपने पिता से 1.1 इंच अधिक लम्बे और 3.9 पौण्ड तौल में अधिक थे। 'मेरिडिथ' के अनुसार संयुक्त राज्य अमेरिका के आजकल के बालक आज से 50 वर्ष पूर्व वाले बालकों से 6 से 8 प्रतिशत अधिक लम्बे होते हैं। कहना नहीं होगा कि यह अन्तर पहले से रहन-सहन का स्तर उच्चतर हो जाने की वजह से हुआ। ऊंचाई और बुद्धि-स्तर में परस्पर-सम्बन्ध को समझाने के लिए 'हालिंगवर्थ' ने 9 से 11 वर्ष की उम्र वाले बालकों पर अन्वेषण किया। इन बालकों की बुद्धिलब्धि सम्बन्धी गुणक 135 से 190 के अन्तर्गत थे। उसने इन बालकों की 90 से 110 बुद्धिलब्धि गुणन वाले बालकों से तुलना की। उसने इन बालकों की तुलना एक तीसरे समूह से की जिसकी बुद्धिलब्धि गुणक 65

के नीचे था। इन तीनों समूहों के बालकों की औसत ऊंचाई क्रमशः 52.9, 51.2 तथा 49.6 इंच आई। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि बुद्धि और ऊंचाई में एक सम्बन्ध होता है अर्थात् अधिक बुद्धि वाले बालक मन्द बुद्धि की अपेक्षा लम्बे होते हैं।

विभिन्न अवयवों के विकास में परस्पर सम्बन्ध

जन्म के समय शिशु के विभिन्न अवयवों में जो सम्बन्ध होता है वह सम्बन्ध प्रौढ़ावस्था पर नहीं रह जाता; उदाहरणार्थ जन्म के समय सिर अन्य अवयवों की तुलना में अनुपाततः अधिक बड़ा लगता है। इस अनुपात का विभिन्न-विभिन्न अवयवों के विकास पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। विकास के रूप में विभिन्न अवयव-सम्बन्धी अनुपात शीघ्रातिशीघ्र पाने के लिए प्रकृति की ऐसी व्यवस्था है कि कोई अवयव शीघ्र बढ़ जाता है और किसी का विकास बड़े ही धीरे-धीरे होता है। अतः कोई अवयव पहले परिपक्वावस्था पर आ जाता है और कुछ बाद में आता है। परन्तु 17-18 वर्ष के लगभग विभिन्न अवयव अपने समुचित अनुपात में प्रायः आ जाते हैं। फलतः तब व्यक्ति प्रौढ़ की तरह लगता है।

सिर की बनावट

ऊपर लिखा जा चुका है कि जन्म के समय सिर अन्य अवयवों की अपेक्षा अधिक बड़ा लगता है। अतः जन्म के बाद इसका विकास कम होता है; क्योंकि इसे कम ही बढ़ना रहता है। जन्म के समय सिर की तौल पूरे शरीर के तौल की 22 प्रतिशत होती है, यदि सिर की तौल का यह अनुपात बना रहे तो प्रौढ़ावस्था पर व्यक्ति का सिर औसतन 8 या 9 इंच लम्बा न होकर लगभग 16 इंच अर्थात् इतना बड़ा हो जाएगा कि वह दैत्य-सा मालूम होगा। प्रौढ़ावस्था तक पहुंचने के क्रम में सिर की लम्बाई जन्म से दुगुनी हो जाती है। परन्तु उसका पूरा आकार जन्म से 3½ गुना हो जाता है। शरीर-शास्त्री 'व्याएड' का कहना है कि जन्म के समय शरीर के पूरे क्षेत्रफल का 21 प्रतिशत सिर का क्षेत्रफल होता है, पांचवें वर्ष में यह प्रतिशत 13, 12वें वर्ष में 10 और 18वें वर्ष में केवल 8 रह जाता है। जन्म के समय सिर की खोपड़ी काफी बड़ी होती है और चेहरे का क्षेत्रफल छोटा होता है। इस समय चेहरे और खोपड़ी में 1.8 का अनुपात रहता है। पांच वर्ष की अवस्था पर यह अनुपात 1.5 का और प्रौढ़ावस्था पर 1: 2.5 का होता है और तरुणावस्था के बाद इसका विकास नहीं होता। अतः सिर के आकार में जो वृद्धि होती है उसमें चेहरे के विकास का विशेष स्थान होता है। क्योंकि जन्म के समय सिर की परिधि तीन वर्ष वाली परिधि का ⅔ होती है। छः वर्ष का प्रौढ़ आकार का 90 प्रतिशत और 12 वर्ष पर

95 प्रतिशत सिर हो जाता है। विकास की प्रत्येक अवस्था में लड़के के सिर क
आकार लड़की के सिर से बड़ा होता है।

चेहरा

खोपड़ी का आकार जन्म के समय ही बहुत बड़ा होता है। अतः प्रारम्भ में सि अन्य अवयवों की तुलना में भद्दा जान पड़ता है। सिर का ऊपरी हिस्सा चेहरे की तुलना में बड़ा दिखलाई देता है। चेहरे के नीचे का हिस्सा शैशव तथा बचपन में दांत के न होने अथवा छोटे होने के कारण छोटा होता है। प्रथम सात वर्ष के अन्दर चेह की हड्डियां बहुत बढ़ जाती हैं। जब तक स्थायी दांत नहीं आ जाते तब तक मुंह दाढ़ी और नीचे का सारा भाग ऊपर के भाग की तुलना में छोटा होता है। परन्तु इस समय तक मस्तिष्क का विकास बड़ी ही द्रुतगति से चलता रहता है। तरुणावस्थ के आते-आते माथा चपटा हो जाता है, होंठ भर जाते हैं और चेहरा गोलाकार के स्थान पर अण्डाकार दिखलाई पड़ता है।

नाक

चेहरे के अन्य अंगों की अपेक्षा नाक का विकास बड़े बेडौल रूप में चलत है। कुछ प्रथम वर्षों तक नाक बहुत छोटी दिखलाई पड़ती है और चेहरे में चपटी जान पड़ती है। परन्तु नाक की कोमलास्थि के बढ़ने के साथ नाक बड़ी होने लगती है और इसका स्वरूप भी सुडौल होने लगता है। तेरह या चौदह वर्ष की अवस्था में नाक का पूर्णरूपेण विकास हो जाता है और लड़कों की नाक के बाल पहले से बहुत मोटे और मजबूत हो जाते हैं। नाक के इस प्रकार जल्दी प्रौढ़ हो जाने से किशोर थोड़ा चिन्ता करने लगता है और सोचता है कि उसका चेहरा सदा के लिए भद्दा हो गया

धड़

यदि बालक का धड़ बेडौल रूप में बढ़ जाता है तो उसका संतुलन बिगड़ जाता है और बैठने, खड़े होने तथा चलने में उसे कठिनाई होती है। अतः इसे ठीक करने की शीघ्र चेष्टा करनी चाहिए। धड़ और पैर के लम्बा हो जाने से यह अपने आप ठीक हो जाता है और शरीर सुडौल होने लगता है। 'बेले' और 'डेविस' के मतानुसार प्रथम वर्षों में शरीर के साधारण आकार में बड़ा परिवर्तन आता है। प्रथम वर्ष में शिशु बड़ा मोटा हो जाता है। इसीलिए तो इस समय तौल में जितनी वृद्धि होती है उतनी ऊंचाई में नहीं होती। छः वर्ष की अवस्था पर धड़ लम्बाई और चौड़ाई में जन्म से दुगुना हो जाता है। इसके बाद शरीर दुबला होता जाता है और तरुणावस्था के आने पर उसकी चौड़ाई फिर बढ़ने लगती है। छठे वर्ष से कैशोर तक शरीर लगभग 50 प्रतिशत

लम्बाई में बढ़ जाता है। प्रौढ़ावस्था पर धड़ जन्म से लगभग 2½ गुने से कुछ ही कम होता है। कैशोर के आते-आते छाती गहरी और लम्बी हो जाती है। किशोरवस्था में कूल्हे भी खूब बढ़ते हैं।

भुजाएं और पैर

पैर की वृद्धि से शरीर पहले से अधिक सुडौल होने लगता है। जन्म के समय अनुपाततः शिशु के पैर बहुत ही छोटे होते हैं और भुजाएं बहुत बढ़ी जान पड़ती हैं, हाथ और पांव बहुत ही छोटे होते हैं अतः सुडौलपन लाने के लिए विकास की विभिन्न गतियों का आना आवश्यक है।

जन्म के दूसरे वर्ष के अन्दर भुजाएं और हाथ 60 से 75 प्रतिशत के लगभग बढ़ जाते हैं। आठ वर्ष की अवस्था में भुजाएं दो वर्ष की अवस्था से 50 प्रतिशत बढ़ जाती हैं। इस समय वे बड़ी ही पतली जान पड़ती हैं और मालूम होता है कि उनमें मांसपेशियों का अधिक विकास नहीं हुआ है। 8 से 16 या 18 वर्ष तक भुजाओं का विकास बड़ी ही धीमी गति से चलता है।

जन्म के दूसरे वर्ष तक पैर 40 प्रतिशत बढ़ जाते हैं। आठवें वर्ष में दूसरे वर्ष की अपेक्षा वे 50 प्रतिशत बढ़ जाते हैं। इस प्रकार भुजाओं की तुलना में पहले पैर का विकास धीमी गति से चलता है। कैशोर में जन्म के समय से पैर चौगुने और प्रौढावस्था पर पांचगुने हो जाते हैं। भुजाओं की तरह पैर भी कैशोर तक पतले रहते हैं। जब लम्बाई का बढ़ना कुछ बन्द हो जाता है तब मांसपेशियों का विकास पहले से अधिक होने लगता है।

हाथ और पांव

नवजात शिशु के हाथ और पांव बड़े ही छोटे होते हैं। जब तक वे आकार में और बढ़ नहीं पाते और उनमें कुछ अधिक शक्ति नहीं आ जाती तब तक उनसे कोई काम लेना असम्भव होता है। अतः प्रथम दो वर्षों में उनका विकास बड़ी द्रुतगति से चलता है। इसके बाद तरुणावस्था तक विकास की गति धीमी रहती है। परन्तु चौदह वर्ष की अवस्था पर उनकी लम्बाई प्रायः अपनी चरम सीमा पर पहुंच जाती है। जो लड़के और लड़कियां विकास के नियमों से अवगत नहीं रहते उन्हें इससे बड़ा मानसिक क्लेश होता है, क्योंकि उनके अनुसार हाथ और पांव का बहुत बढ़ जाना सौन्दर्य के विरुद्ध है। कुछ लड़कियां अपने पांव को छोटा करने के लिए अथवा उसकी लम्बाई को छिपाने के लिए चुस्त जूते पहनती हैं। कुछ अन्य किशोर अपने हाथों को पीछे रखकर अथवा जेब में छिपाकर उनकी लम्बाई के कारण कल्पित भद्देपन को छिपाने का प्रयास करते हैं।

हड्डियां

हड्डियों में विकास का तात्पर्य उनके आकार की वृद्धि, संख्या का बढ़ना तथा उनकी रचना में परिवर्तन आ जाना है। एक्सरे द्वारा परीक्षा के आधार पर अन्वेषण करके बेले ने यह निष्कर्ष निकाला है कि प्रथम वर्ष में हड्डियों का विकास बड़ी द्रुतगति से चलता है, इसके पश्चात् ज्यों-ज्यों उम्र बढ़ती जाती है उनके विकास की गति में धीरे-धीरे कमी आने लगती है।

भुजाओं और पैर की लम्बी हड्डियां तरुणावस्था में विशेष रूप से बढ़ती हैं; परन्तु इसके बाद भी इनका विकास कई वर्षों तक चलता रहता है। तरुणावस्था पर कूल्हे की हड्डियां लड़के और लड़कियों दोनों में बहुत बढ़ जाती हैं। इससे कमर के पास की परिधि काफी बढ़ जाती है। चेहरे की हड्डियों के बढ़ने से किशोर व्यक्ति के चेहरे के स्वरूप में भी बड़ा परिवर्तन दिखलाई पड़ता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि किशोर में हड्डियों का विकास पर्याप्त होता है।

हड्डियों की स्थिति और संख्या

जन्म के समय शरीर में कुल 270 हड्डियां होती हैं। चौदह वर्ष की अवस्था तक इनकी संख्या 350 तक पहुंच जाती है। आश्चर्य है कि तरुणावस्था के बाद हड्डियों की संख्या में वृद्धि न होकर कमी आ जाती है और प्रौढ़ावस्था के बाद मध्य जीवन में जन्म से भी कम उनकी संख्या रह जाती है और आखिर समय तक केवल 206 हड्डियां ही पाई जाती हैं। एक्सरे द्वारा किसी बच्चे के हाथ की हड्डियों की परीक्षा से इस कमी का कुछ अनुमान मिलता है। दो वर्ष की अवस्था में कलाई में दो या तीन हड्डियां दिखलाई पड़ती हैं। छः वर्ष पर 6 या 7 हड्डियां जान पड़ती हैं और 12 से 15 वर्ष के अन्दर 8 हड्डियां मालूम होती हैं। बात यह है कि उम्र के बढ़ने पर अपने विकास में क्रम के कई हड्डियां आपस में मिलकर एक हो जाती हैं। फलतः कुछ दिन के बाद उनकी संख्या में कमी हो जाती है।

जन्म के समय हड्डियां बड़ी ही कोमल और लचीली होती हैं। शरीर के कुछ स्थान में ऐसी झिल्लियां होती हैं जो बाद में हड्डियों के रूप में परिवर्तित हो जाती हैं। अस्थिपंजर के कुछ भागों में ऐसी हड्डियां होती हैं जो बाद में मिलकर एक हो जाती हैं। अठारह महीने की अवस्था तक लगभग 50 प्रतिशत शिशुओं के कपाल की एक-दूसरे से अलग हड्डियां आपस में जुड़ जाती हैं और दो वर्ष की अवस्था तक तो प्रायः सभी की जुड़ जाती हैं। लड़कियों की ये हड्डियां बालकों से शीघ्रता से जुटती हैं। जन्म के समय रीढ़ बड़ी कोमल होती है और उसे बड़ी सरलता से अव्यवस्थित किया जा सकता है, क्योंकि वह कोमलास्थियों से निर्मित होती है। प्रथम तीन वर्ष

के अन्दर रीढ़ की हड्डियों का प्रायः ½ या ⅔ भाग विकसित हो जाता है।

बच्चों की हड्डियां बड़ी ही कोमल होती हैं। अतः बिना किसी विशेष कठिनाई के उन्हें किसी भी आसन में व्यवस्थित किया जा सकता है, उदाहरणार्थ उनके मस्तक को घुटने से छुड़ाया जा सकता है, अथवा पांव को हलासन के क्रम से मस्तक से छुपाना कठिन न होगा। परन्तु लचीली होने के कारण समुचित सावधानी के अभाव में हड्डियों में दोष भी आ सकते हैं। यदि शिशु को बहुत देर तक पीठ के बल पर नित्य सुलाया जाए तो सिर का आकार चपटा हो सकता है; या यदि वह बहुत देर तक नित्य पेट के बल लेटा रहता है तो छाती चपटी हो सकती है। बचपन में छोटे जूते पहनने से पांव छोटा हो सकता है अथवा उसका आकार बिगड़ सकता है। स्कूल-डेस्क पर झुककर बैठते रहने से कमर की रीढ़ की हड्डी टेढ़ी हो सकती है।

हड्डियों के दृढ़ होने की क्रिया

ऊपर यह कहा जा चुका है कि बाद में चलकर कुछ झिल्लियां हड्डियों के रूप में परिवर्तित हो जाती हैं। यह क्रिया जन्म के बाद प्रथम वर्ष से प्रारम्भ होती है और तरुणावस्था के कुछ ही पूर्व बाद बंद हो जाती है। कैल्शियम, फॉसफोरस तथा अन्य खनिज पदार्थों की सहायता से हड्डियां बनती अथवा दृढ़ होती हैं। हड्डी बनने की क्रिया में हड्डी में 60 प्रतिशत से अधिक विभिन्न खनिज पदार्थ आ जाते हैं। शरीर के विभिन्न अंगों में हड्डियों के बनने अथवा दृढ़ होने की क्रिया विभिन्न गति से चलती है। लड़कियों में यह क्रिया लड़कों से दो वर्ष पहले ही समाप्त हो जाती है।

दांत

बच्चों के दो प्रकार के दांत होते हैं, अस्थायी अथवा दूध के और स्थायी। इन दोनों प्रकार के दांतों में कई विभेद पाए जाते हैं। अस्थायी दांत स्थायी से छोटे होते हैं। स्थायी दांत में उत्तमतर तत्त्वों का समावेश रहता है। अतः वे अधिक दिन तक चलते हैं।

दांत का विकास एक क्रमिक रूप से चलता है। यह क्रम गर्भाशय में पांचवें महीने से ही प्रारम्भ हो जाता है। अस्थायी दांतों के आगमन के समय शिशु को बड़ी यातना सहनी पड़ती है; उसे कई दस्त आते हैं; उसकी भूख मारी जाती है और वह बहुत ही चिड़चिड़ा हो जाता है। अस्थायी दांतों के आगमन का मनोवैज्ञानिक प्रभाव यह होता है कि प्रत्येक स्थायी दांत यह दिखलाता है कि बालक प्रौढ़ावस्था की ओर अग्रसर हो रहा है और अपने विकास-क्रम के अनुसार वह प्रौढ़ व्यक्तियों के अधिकारों को भी पहले से अधिक समझने लगता है।

अस्थायी दांत

तीसरे महीने से लेकर 16वें महीने के अन्दर पहला अस्थायी दांत अवश्य आ जाता है; परन्तु सामान्यतः 6वें या 8वें महीने में पहला दांत आ जाता है। नीचे के दांत ऊपर वालों से पहले आते हैं। दांतों के आने का समय साधारण स्वास्थ्य, जन्म के पूर्व और बाद पौष्टिक भोजन, सामाजिक स्थिति, जाति तथा अन्य कुछ बातों पर निर्भर करता है। प्रायः यह देखा जा सकता है कि लड़कियों में लड़कों से पहले दांत आते हैं और स्थायी स्थान देने के लिए वे पहले गिर भी जाते हैं।

स्थायी दांत

अस्थायी दांतों के आ जाने पर स्थायी दांत ऊपर आने के क्रम में मसूढ़ों के नीचे-नीचे अपनी तैयारी करने लगते हैं। साधारणतः 6 वर्ष की अवस्था में बच्चे को एक या दो स्थायी दांत आ जाते हैं। आठ वर्ष की उम्र में 10 या 11; दस वर्ष पर 14 या 16; बारह वर्ष पर 24 या 26 और तेरह वर्ष पर 27 या 28 दांत प्रायः आ जाते हैं। अन्तिम चार स्थायी दांत 17वें और 25वें वर्ष के अन्तर्गत आते हैं। बहुत सम्भव है कि किसी-किसी को वे न भी आएं।

मन्द-बुद्धि बालकों के एक स्कूल से 'कोहेन और एण्डरसन ने 218 बालकों का यह जानने के लिए अध्ययन किया कि स्थायी दांतों के आगमन और मानसिक उम्र में क्या सम्बन्ध होता है। उन्होंने देखा कि विकास की प्रत्येक अवस्था में मन्द बुद्धि बालक के स्थायी दांत कम आते हैं। पूर्वकाल में दांतों के आगमन के सम्बन्ध में उसका भेद उतना स्पष्ट नहीं था जितना कि उत्तर-काल में दांतों के सम्बन्ध में स्पष्ट था। मन्द बुद्धि बालकों में 'बगल के दांत' कभी-कभी नहीं होते थे; परन्तु सामान्य बालकों के सम्बन्ध में यह बात नहीं पाई जाती थी।

दांत एक तरह की हड्डी है। चूने की जाति का नमक (Calcium Salts) और (gelatine) सरेश इसके गठन के प्रधान उपकरण हैं। हरेक दांत पर एक तरह का सफेद आवरण (dentine) रहता है। दांत की देह का आवरण पत्थर का तरह होता है। यह बहुधा कड़ा और चिकना होता है।

दांत का आकार एकदम निखालिस नहीं होता। इसकी जड़ में सीकड़ के पास एक छेद रहता है। इसी छेद से होकर मस्तिष्क से स्नायु और रक्तवह नाड़ी प्रवेश कर इसके खोल में फैली हुई रहती है। ये रक्तवह नाड़ियां और स्नायु ही दांतों की मज्जा (Tooth pulp) है।

भोजन पर ही जीवन निर्भर रहता है। इसके अलावा दांतों पर आहार भी बहुत कुछ निर्भर करता है। अतएव चबाकर खाने से भोजन सहज में ही पच जाता है।

अच्छी तरह बचपन से ही इस विषय में सावधान रहना चाहिए। भोजन करने के बाद यदि दांत में कुछ अड़ा रहे तो सींक या कोई साफ महीन लकड़ी से उसे निकाल देना चाहिए। थोड़ा-सा भी खाने के बाद मुंह और दांत अच्छी तरह मलकर धो डालना उचित है, नहीं तो खाद्य पदार्थ के कण, थोड़ी देर बाद ही सड़कर अम्ल रस हो जाते हैं। यह अम्ल रस लगा रहने के कारण दांत का आवरण (enamel) धीरे-धीरे क्षय होने लगता है और वह जल्द ही नष्ट हो जाता है, क्योंकि दांत का आवरण जितना कड़ा होता है, वे उतने कड़े नहीं होते; यहां तक कि दन्तावरण (dentine) में थोड़ी-सी हवा लगने से ही वह नष्ट हो जाता है।

जीभ

जीभ (Tongue) स्वाद लेने का प्रधान सहायक है। यदि जीभ नहीं रहती, तो हम लोग बोल भी नहीं सकते। दूसरी बात यह कि यदि जीभ को 'स्वास्थ्यदर्पण' कहा जाए, तो भी अत्युक्ति न होगी। स्वास्थ्य अच्छा रहने पर जीभ का रंग स्वाभाविक रहता है, नहीं तो वह बदरंग हो जाती है। चबाने में भी जीभ बहुत कुछ सहायता करती है। जीभ मांसपेशी से बनी रहती है और इस पर एक तरह की झिल्ली चढ़ी रहती है।

मांसपेशियां

ये जिन और जैसे तन्तुओं से बनी हुई या उत्पन्न हैं; उनसे साफ मालूम होता है कि वे एक ही पदार्थ हैं। मांसपेशी या कुछ मांसों का गुच्छा है या एक-एक मांस-सूत्र है। सारे शरीर का जो वजन होता है उसकी आधी-पेशियां होती हैं। (Muscles make up about one half of talal body weight)। किसी प्रतिमा का ढांचा जिस तरह मिट्टी से लेप हुआ रहता है; मनुष्य का कंकाल भी उसी तरह मांस और पेशियों द्वारा ढंका रहता है। इन पेशियों की संख्या लगभग पांच सौ है। इनका गुण यह है कि ये स्थिति-स्थापक हैं और इन्हें सहज में टेढ़ा-मेढ़ा और संकुचित किया जा सकता है। ये मांस-पेशियां कितने ही सूत —जैसे मांसों की मिलावट मात्र हैं। इनका कुछ अंश स्वच्छ है, पर इनमें खून लगा रहता है। इसलिये ये लाल दिखाई पड़ती हैं। इनका बीच का भाग पतला दिखाई देता है, परन्तु दोनों सिरे पर नुकीले पतले रहते हैं। पेशियों में सैकड़े के 75 भाग परिमाण में पानी रहता है।

आन्तरिक अवयवों में परिवर्तन

पेशियों को कई भागों में विभक्त किया जा सकता है। प्लेन या चिकनी और स्वच्छ, हमारी इच्छानुसार काम करने वाली या ऐच्छिक पेशी और दूसरी धारीदार। स्वतः

प्रवर्तित या अनैच्छिक पेशी।

पहले प्रकार की पेशी हमारी इच्छानुसार काम करती हैं जैसे पैर की एड़ी की, मुंह की इत्यादि।

इच्छा करते ही पैर की एड़ी की पेशी हिलायी जा सकती है। गर्दन की पेशी से माथा सीधा रखा जा सकता है। मुंह की पेशी से चबाया जा सकता है।

दूसरे प्रकार की पेशियां परिवर्तनशील हैं। ये हमारी इच्छा के अधीन नहीं हैं। बल्कि अनैच्छिक पेशी हैं। पाकस्थली, आंतों की, फेफड़े और हृदय की पेशियां इसी ढंग की हैं। इनका काम हमेशा चला करता है अर्थात् सांस लेने और छोड़ने में, खून के दौरान में, पाचन-क्रिया और प्रसव-क्रिया आदि में।

श्वास-सम्बन्धी अवयव

श्वास-नली प्रायः चार इंच लम्बी होती है। यह खोखली और मोटी एक खास नली है। इसका भीतरी भाग श्लैष्मिक-झिल्ली से ढका है और बाहरी भाग एक मोटी झिल्ली से घिरा हुआ है। यह गले की राह से वक्ष-गह्वर में चली गई है। वक्ष-गह्वर में जाने के बाद यह दो शाखाओं में विभक्त हो गयी है। और इस तरह दो शाखाओं में बंटकर एक शाखा दाहिने फुसफुस में और दूसरी बाएं फुसफुस में चली गई है। इन दोनों शाखाओं का नाम 'वायुनली' है। श्वासनली, इन दोनों फेफड़ों में हवा जाने-आने का प्रधान-पथ है, खासकर इन्हीं दोनों राहों से फेफड़े में हवा जाती है, श्वास-नली के अगले भाग को कण्ठनली या स्वर-यंत्र कहते हैं। यह गलदेश के ऊपरी आधे भाग में लगा हुआ है। इस कण्ठनली से ही बोलने का शब्द आदि निकलता है।

पाचन-सम्बन्धी अवयव

पाचन-सम्बन्धी अवयव चार स्तरों से बने हैं—(1) सबसे ऊपर वाला स्तर वास्तव में पाकस्थली का एक ढकना-मात्र है। (2) दूसरा स्तर मांसपेशी द्वारा बनाया हुआ है पाकस्थली में भोज्य-पदार्थ जाते ही ये सब मांसपेशियां लगातार एक के बाद एक संकुचित होकर मानो लहरें उठने लगती हैं। इस तरह ये दबाव देकर भोजन के पदार्थ को मथने लगती हैं। इसलिये खाया हुआ पदार्थ तुरन्त चूर-चूर हो जाता है और लेही या चटनी की तरह बन जाता है। (3) तीसरा स्तर रक्तवह नली और (4) अर्थात् अन्तरतम स्तर मधुमक्खी के छत्ते की तरह दिखाई देता है। अधिक रस निकलने के लिये इस श्लैष्मिक झिल्ली में बहुत-से छोटे-छोटे मुंह या छेद हैं।

रक्त-सम्बन्धी अवयव

रक्त—यह खून एक तरह का पतला पदार्थ है। यह पानी से कुछ गाढ़ा रहता

है। इसका रंग चमकीला लाल रहता है। असल में तो खून पानी की तरह ही बिना किसी रंग का अर्थात् वर्णहीन होता है, पर इसमें लाल रंग की कणिकाएं तैरती रहती हैं। इसलिए यह लाल दिखाई देता है।

हृत्पिण्ड से कितने ही तरह के नल या नाड़ियां निकलती हैं। इसके द्वारा ही हृत्पिण्ड से शरीर के सब भागों में खून का दौरा हुआ करता है। इसी वजह से इन्हें 'रक्तवह नाड़ी' कहते हैं। इन रक्त ले जाने वाली नाड़ियों में कितनी को 'धमनी,' कुछ को 'शिरा' और कितनी ही को केशिका नाड़ियां कहते हैं। जिस नली में लाल खून रहता है उसको धमनी कहते हैं। जिस नली में बैंगनी या कालिमा लिये रक्त रहता है उसको शिरा कहते हैं और जो केश की तरह बहुत पतली-पतली नसें रहती हैं और जिनसे धमनी या शिराओं का आपस में संयोग हो जाता है उनको केशिक नाड़ी कहते हैं।

स्नायु-मण्डल का विकास

मस्तिष्क और मेरुमज्जा की जड़ से स्नायु बाहर निकलकर शरीर के सब स्थानों में फैले हुए हैं। ये स्नायु-मंडल सारे शरीर में फैलकर आपस में सम्बन्ध बनाए हुए हैं। यद्यपि ये बहुत-से मालूम होते हैं, पर वास्तव में एक हैं। मस्तिष्क और स्नायु एक ही वस्तु से बने हैं। जब बच्चा पैदा होता है तो इनका विकास इस रूप में नहीं होता बल्कि ये स्नायु धीरे-धीरे अपने वास्तविक रूप में आते हैं। तीन-चार वर्ष की उम्र के बाद स्नायु-मण्डल के विकास की गति पहले से कुछ कम हो जाती है। मस्तिष्क के विकास का अध्ययन प्रत्यक्षतः नहीं किया जा सकता। विकास का अनुमान मृत व्यक्तियों के मस्तिष्क से अथवा जीवित बच्चों के सिर के बाह्य आकार के माप से कुछ किया जा सकता है। इस प्रकार के माप से यह अनुमान किया जा सकता है कि जन्म से प्रथम चार वर्ष तक विकास की गति कुछ धीमी पड़ जाती है। इसके बाद गति बड़ी ही धीमी पड़ जाती है और लगभग 16वें वर्ष में इसका विकास एक प्रकार से रुक जाता है। कहा जाता है कि इस अवस्था तक वह अपनी पूर्ण प्रौढ़ता को पा जाता है। कुछ प्रथम महीनों तक खोपड़ी की विभिन्न हड्डियां, झिल्लियों द्वारा एक-दूसरे से सम्बन्धित रहती हैं। अतः उनके बढ़ने के लिए काफी स्थान रहता है। जन्म के समय मस्तिष्क की तौल 350 ग्राम के लगभग रहती है। प्रौढ़ावस्था पर यह तौल 1260 से 1400 ग्राम के बीच आ जाती है। इस प्रकार प्रौढ़ावस्था के तौल की लगभग एक चौथाई, जन्म के समय, नौ महीने में आधा, दूसरे वर्ष तक तीन-चौथाई, चौथे वर्ष तक चार-चौथाई और छठे वर्ष तक नौ-दसाई तौल मस्तिष्क का होता है। जन्म के समय मस्तिष्क का तौल पूरे शरीर की तौल का $\frac{5}{8}$,

दसवें वर्ष में, $\frac{5}{18}$ तथा पन्द्रहवें वर्ष में और प्रौढ़ावस्था में $\frac{5}{40}$ रहता है। इससे यह स्पष्ट है कि बचपन के प्रथम वर्षों में मस्तिष्क का विकास बड़ी ही द्रुतगति से चलता है। किशोर में मस्तिष्क का विकास बहुत ही कम होता है। क्योंकि इस समय तक उसकी तौल की प्रौढ़ता आ जाती है। परन्तु बाह्य रचना-सम्बन्धी इसका विकास कुछ-न-कुछ चलता रहता है। आठवें वर्ष तक मस्तिष्क का विकास पूर्ण हो जाता है। परन्तु इससे सम्बन्धित भूरे तत्त्व (Gray matter) का विकास अभी पूर्णरूपेण नहीं हुआ रहता।

संवेगात्मक विकास

संवेगात्मक विकास

कुछ मनोवैज्ञानिकों का विचार है कि नवजात शिशु का रोना और अपने अंगों को पटकना एक प्रकार से संवेगात्मक है। लेकिन इसके विषय में कोई दृढ़तापूर्वक कह नहीं सकता। जब शिशु किसी मनुष्य के चेहरे को देखकर मुस्कराता है, तब यह निश्चयात्मक रूप से संवेगात्मक प्रतिक्रिया का प्रदर्शन है। कुछ समय बाद यह आरम्भ की मुस्कराहट मुक्त हंसी में परिवर्तित हो जाती है। जब बालक कुछ और बड़ा होता है, वह अपने क्रोध और घृणा-सरीखे अधिक उद्धत संवेगों को दबाने का प्रयत्न करता है। इसका कुछ कारण बड़ों का शासन होता है, और वह भी उनका अनुकरण करने का प्रयत्न करता है। तथा कुछ इस कारण भी होता है कि अवस्था बढ़ने के साथ ही बालक का भावों के प्रकट करने वाले प्रतीकों अर्थात् भाषा और संकेतों पर अधिक अधिकार हो जाता है और अब वह अपने भावों को प्रकट करने के लिए केवल उत्पाती शारीरिक क्रियाओं पर ही आश्रित नहीं रहता। प्रायः ऐसा होता है कि बालक का संवेग-प्रदर्शन वयस्कों की अपेक्षा अधिक प्रबल और प्रत्यक्ष होता है। संवेग जागृत करने वाली स्थितियां भी उम्र के साथ परिवर्तित होती जाती हैं। शिशु के संवेग केवल उन्हीं उद्दीपकों से जागृत होते हैं जो प्रत्यक्ष रूप से उसे प्रमाणित करते हैं, और जिनसे वह आवश्यक रूप से सम्बन्धित होता है। जब बालक बड़ा होता है उसके संसार का विस्तार होता है, और उसकी रुचियों में परिवर्तन हो जाता है। सम्भवतः अब कुछ बातें, जो पहले प्रबल संवेगात्मक प्रतिक्रिया उत्पन्न करती थीं, अब उसे प्रभावित नहीं करतीं।

शैशवावस्था में कोई भी स्थिति, जो शिशु की इच्छाओं एवं आवश्यकताओं की संतुष्टि के मार्ग में बाधा डालती है, संवेग उत्पन्न करती है। उदाहरण के लिए शिशु माता-पिता के साथ बाहर जाना चाहता है, लेकिन वे उसे साथ नहीं ले जाते। वह चिल्लाना आरम्भ करता है, जो माता-पिता के इन्कार करने से उत्पन्न संवेग का परिणाम है। मान लीजिए माता-पिता उसे शान्त करने के लिए एक गुड़िया खेलने को दे देते हैं। किसी समय गुड़िया बालक को बहुत अधिक आकर्षित करती थी,

पर इस समय वह नहीं करेगी। वह गुड़िया इस उपेक्षा-पूर्ति में असमर्थ है। शिशु वयस्कों की क्रिया में भाग लेने का अत्यन्त इच्छुक था, लेकिन वह अस्वीकृत कर दिया गया। इस कुपेक्षा का बदला वह गुड़िया से लेता है, जो माता-पिता के छल का प्रत्यक्ष कारण बन जाती है। उसकी प्रतिहिंसा क्रूरता में परिवर्तित हो जाती है, जिसे बालक अन्यथा कभी नहीं प्रकट करता। धीरे-धीरे यह बालक की आदत हो जाती है। इसी प्रकार बार-बार बालक की इच्छाओं को रोकने से वे चिड़चिड़े और क्रोधी हो जाते हैं। इससे बचने के लिए बालक और उसकी समय-समय की आवश्यकताओं को समझना चाहिए। हो सकता है कि हम सदा उसकी इच्छाओं को सन्तुष्ट नहीं कर सकेंगे और यह भी हो सकता है कि यह संतुष्टि सदा उचित न हो। ऐसी स्थिति में उसी के अनुरूप उसके स्थानापन्न (Substitution) का प्रबन्ध करना चाहिए। जब बालक बड़ों के साथ बाहर जाना चाहते हैं, तो वे मनुष्यों के साथ रहने की इच्छा प्रकट करते हैं और वे उसे साथ नहीं ले जा सकते तो ऐसी स्थिति में बालक के लिए उसके समवयस्क बच्चों का साथ होना चाहिए, अथवा कोई उसे किसी दूसरे स्थान में ले जाने वाला होना चाहिए।

प्रारम्भिक संवेगात्मक प्रतिक्रियाएं

संवेगों की प्रतिक्रिया की दृष्टि से शिशु का खानपान बिछुड़न (Weauing) का समय बड़ा कठिन होता है। जैसे ही दांत दिखाई देते हैं बालक को अनेक रोग घेर लेते हैं, और उसकी खाने की आदतें परिवर्तित होने लगती हैं। स्तनपान अधिकतर रुक जाता है। क्योंकि शिशु अब अपने दांतों से भी मां को कष्ट पहुंचाता है। इस रोग का कारण बालक समझ नहीं पाता है। वह यह समझता है कि वह अपने इस विशेष अधिकार से जो उसे जन्म से ही प्राप्त है, अन्यायपूर्वक वंचित किया जा रहा है। कभी ऐसा होता है कि इसी समय परिवार में एक नया बालक प्रवेश करता है; जो उसकी मां पर पूर्ण अधिकार कर लेता है। यदि ऐसा होता है तो स्वाभाविक है कि बालक इस नए मेहमान को अपनी समस्त हानियों का कारण समझकर उसके प्रति ईर्ष्यालु हो सकता है। उसकी यह घृणा उत्तेजक रूप में कभी-कभी बालक को चोट पहुंचाकर भी प्रकट होती है। खानपान बिछुड़न की अवस्था के पश्चात् बालक व्यक्तिगत खेलों में रम जाता है। इस समय वह आत्मरत और आत्मकेन्द्रित रहता है तथा बहुत कम उत्तेजित होता है। जब तक वह यह न अनुभव करे कि वह अपने कुछ अधिकारों से वंचित कर दिया गया है, अथवा उसकी किसी क्रिया में बाधा न पहुंचाई जाए, वह शान्त रहता है। अस्वस्थ और अविकसित बालक, जो खेल में भाग लेने में असमर्थ रहते हैं। निष्क्रिय और संवेगात्मक या

चिड़चिड़े और आत्मकेन्द्रित रहते हैं; सम्भवतः इसका कारण यह होता है कि अपने चित्त को भ्रमित करने के लिए उनके पास कुछ नहीं होता। उनका चिड़चिड़ापन सम्भवतः उनकी अस्वस्थता के कारण होता है।

यदि कोई बालक बहुत जल्दी स्कूल भेज दिया जाता है, तो वह दिन के अधिकांश भाग में अपने को एक नए वातावरण में कैद पाता है। विद्यालय के पहले कुछ दिन किसी भी बालक के लिए संघर्ष और उद्विग्नता के होते हैं, क्योंकि वह यह नहीं जानता है किस प्रकार अन्य बालकों और अध्यापकों के साथ व्यवहार करना चाहिए। बालक अनुभव करता है मानो उसे घर के सहानुभूतिपूर्ण वातावरण से, जिसे वह जानता था, और जिसमें उसने अपने पूर्ण आत्म-विश्वास का विकास किया था, बहिष्कृत कर दिया गया हो। वह अपनी स्थिति की तुलना अपने छोटे भाइयों से करता है, जो परिवार के अन्य सदस्यों के साथ आनन्द से आराम करते हैं, जबकि वह एक अपरिचित स्थान में, अपरिचित लोगों के बीच, एक निश्चित अवरोध के मध्य रख दिया गया है। इससे वह ईर्ष्या और हठ का अनुभव करता है; उसका यह अनुभव मां का दूध छोड़ने के समय के अनुभव से भिन्न नहीं होता। पाठशाला जाने के समय वह वहां न जाकर खेलने के लिए भाग जाना चाहता है। भीरु बच्चे इतना साहस नहीं कर पाते, लेकिन जैसा कि शेक्सपियर ने 'ऐज यू लाइक इट' (As you Like it) में लिखा है, वे घोंघे की भांति धीरे-धीरे अनिच्छापूर्वक स्कूल जाते हैं। स्कूल के प्रति इतनी अनिच्छा को समझने के लिए हमें उनके अन्दर चलते हुए संघर्ष को समझना चाहिए। उसके कुछ बाह्य आचरण देखने में अतार्किक मालूम पड़ते हैं। पर उन्हें यदि बच्चे की आन्तरिक इच्छा के प्रकाश में देखा जाए तो उनमें भी अपना एक तर्क होता है। सम्भवतः बालक के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान बालक को अपने समवयस्क बालकों के वर्ग में अधिक समायोजित कर सकेगा। बालक में सामाजिकता का विकास करने के लिए संसार में इसकी बहुत अधिक आवश्यकता है।

धीरे-धीरे बालक अपनी प्रारम्भिक पाठशाला में अपने साथियों तथा अध्यापकों के साथ समायोजन कर लेता है। लेकिन शीघ्र ही जब वह स्कूल, जो अब उसके लिए दूसरे घर के समान हो जाता है, छोड़ने तथा माध्यमिक स्कूल में प्रवेश करने के लिए बाध्य किया जाता है। अतः नई समस्याएं उठ खड़ी होती हैं जो नई संवेगात्मक कठिनाइयों को जन्म देती हैं, इसलिए नए प्रकार से समायोजन की आवश्यकता होती है।

माध्यमिक विद्यालय के संवेगात्मक संघर्ष

पांच वर्ष की विद्यालय की शिक्षा के बाद बालक माध्यमिक विद्यालय के नए वातावरण में प्रवेश करता है। अधिकांशतः इस समय बालक किशोरावस्था की

दहलीज पर होते हैं। यदि प्रारम्भिक और माध्यमिक विभाग एक ही संस्था में होते हैं, तब यह संघर्ष इतना अधिक नहीं होता है। क्योंकि वातावरण परिचित होता है, और वह अपनी ही कक्षा के विद्यार्थियों के साथ माध्यमिक विभाग में प्रवेश करता है। पर यदि विद्यालय नया होता है तो उसे अपने अधिकांश साथी नहीं मिल पाते। वह अपनी किशोरावस्था का अनुभव करता है। वह बालक और वयस्क दोनों वर्गों से अलग हो जाता है, जो कि किशोरावस्था में साधारणतः होता है, और वह अपने पुराने मित्रों से भी बिछुड़ जाता है जो कि दूसरे विद्यालयों में चले जाते हैं। सामाजिक एकान्तता तथा शारीरिक उन्नति की समस्या बालक को विरक्त-सा बना देती है और वह अपने संवेगात्मक संघर्षों को कल्पना और स्वप्नों में सन्तुष्ट करने का प्रयत्न करता है। मित्रों का छूटना भी संवेगात्मक दबाव का कारण होता है। सम्भवतः यह समस्या उस बालक के लिए और अधिक जटिल हो जाती है, जिसके नए स्कूल में प्रवेश के साथ ही पिता का तबादला भी नए स्थान में हो जाता है, जहां कि पूर्ण रूप से वह नए मित्रों से अलग हो जाता है। दो मित्रों के झगड़े से भी कभी-कभी गम्भीर रूप से संवेगात्मक भार बढ़ जाता है, इसका प्रभाव उपेक्षा-योग्य नहीं है।

इस काल के संवेगात्मक भार का दूसरा कारण सामाजिक आवश्यकताएं होती हैं, जो कभी-कभी किशोर को विरोधी लिंग (Sex) के सदस्यों की उपस्थिति में आने के लिए बाध्य करती हैं। हम देख चुके हैं कि किशोर अपने प्रति अत्यन्त सचेत रहते हैं, और सब किशोर विशेष रूप से बालिकाएं अपने विरोधी जाति के सदस्यों के सम्मुख अत्यधिक व्याकुलता का अनुभव करती हैं। यह वृत्ति तेरह-चौदह वर्ष की अवस्था में विशेष रूप से पायी जाती है। सह-शिक्षा संस्थाओं तथा समाजीकरण में इसके लाभ के विषय में कुछ भी कहा जाए, लेकिन इस अस्वीकार नहीं किया जा सकता जब तक दोनों जाति के सदस्य समाजसंरक्षा में नहीं होंगे; जिस जाति की संरक्षा कम होगी, वही वर्ग विचित्र असुविधा का अनुभव करेगा, और इससे पहले या बाद की अवस्था की अपेक्षा इस अवस्था में विशेष रूप से संवेगात्मक भार का उदय होगा। सम्भवतः किशोर, यद्यपि हृदय से वह भिन्न जाति के सदस्यों की स्वीकृति और प्रशंसा का अनुभव करता है। कुछ लड़कियों के विद्यालयों में जब कोई नवयुवक अध्यापक आता है, तो मूर्खतापूर्ण प्रेम की प्रवृत्ति का विकास होता है; जो संवेग और समाज दोनों की दृष्टि से आपत्तिजनक है। यहां तक कि जब अध्यापक आदर्शभूत होता है तथा लड़कियां गम्भीर और सुसंस्कृत होती हैं, कभी-कभी व्याकुल कर देने वाली भावनाएं व्यर्थ ही कार्य करने वालों के मस्तिष्क में अपनी स्मृतियां छोड़ जाती हैं। अतः यह आवश्यक है कि सह-शिक्षा वाली माध्यमिक संस्थाओं में पुरुष अध्यापक और स्त्री अध्यापिकाओं की संख्या लगभग समान होनी चाहिए, जिससे

लड़के-लड़कियां अपने स्वजातीय शिक्षक के पास जाकर अपनी इस प्रकार की समस्याओं को हल कर सकें, जिसे वे विरुद्ध जाति के शिक्षक के सामने नहीं प्रकट कर सकते। लड़कों की अपेक्षा लड़कियों को मातृभावशाली स्त्री-शिक्षिका की आवश्यकता होती है, जो उनकी व्यक्तिगत समस्याओं को कोशिश और सहानुभूति के साथ सुलझा संके। विद्यालयों में असफलता संवेगात्मक अव्यवस्था का बड़ा कारण है, क्योंकि यह बालक के नवविकसित अहं को चोट पहुंचाती है (अपने प्रति आदर कम हो जाने से) और इससे घर तथा विद्यालय में उसकी स्थिति गिर जाती है। अधिक छोटे बालकों की तो सफलता की आकांक्षा ही समाप्त हो जाती। अवरोध (Detention) का अर्थ भी उसी कक्षा में रहना, अनिच्छापूर्वक उन्हीं पुस्तकों को पढ़ना, और उन विद्यार्थियों के, जिन्हें अभी तक वह अपने से छोटा समझते हुए नीची दृष्टि से देखता रहा है, साथ रहना होता है। इसका दूसरा अर्थ अपने पुराने मित्रों और कक्षा के साथियों का विद्रोह भी है। इनमें से केवल एक बात ही मानसिक उलझन के लिए पर्याप्त है। इतने तथ्यों के एक साथ मिल जाने पर नैराश्य-भावना का उदय और कार्य में रुचि का नाश, जिसे मनोविज्ञान में अवरोधन (Retorduction) कहते हैं, अवश्यम्भावी है।

इसके अतिरिक्त बालकों में संवेगात्मक अव्यवस्था अन्य कारणों से भी उत्पन्न होती है। कभी-कभी घर और विद्यालय में प्राप्त आचरण की शिक्षा में अन्तर होता है, और यदि यह अन्तर्द्वन्द्व (Conflict) नहीं तो गम्भीर रूप से आरक्षा की भावना अवश्य ही उत्पन्न कर देती है। धर्मपरायण और संकुचित विचारों वाले परिवारों से आने वाले बालक के लिए उदार और जाति-भेद न मानने वाले विद्यालय के आचरण-सम्बन्धी कानून एक समस्या बन जाते हैं। इसी प्रकार जाति-पांति पर विश्वास न करने वाले उदार परिवारों से आने वाले बालक मिशन स्कूल अथवा धार्मिक निर्देश के अनुसार अवस्थित विद्यालयों के साथ उचित समायोजन करने में बड़ी कठिनाई का अनुभव करते हैं। ये बालक यदि घर के नियमों का पालन विद्यालय में करते हैं, तो वे स्कूल में बहिष्कृत कर दिये जाते हैं और अकेलेपन का अनुभव करते हैं, और यदि वे विद्यालय के नियमों को परिवार के अन्दर व्यवहार करने का प्रयत्न करते हैं तो डांट खाते हैं। इसी प्रकार की अवस्था उस समय भी दृष्टिगोचर होती है जब विद्यालय के अन्य सब विद्यार्थी एक समाज और आर्थिक वर्ग के होते हैं, और आचरण के नियम, विद्यालय के नियमों से बिल्कुल भिन्न होते हैं, जो बालक के लिए बड़ी उलझन उत्पन्न कर देते हैं। भारत में ये समस्याएं जाति-व्यवस्था के कारण उत्पन्न होती हैं, क्योंकि जाति धार्मिक, सामाजिक तथा आर्थिक संस्था है, तथा भिन्न-भिन्न जातियों की संस्कृति में महत्त्वपूर्ण अन्तर है। हमारे जाति-भेद को न मानने वाले स्कूल को घर और स्कूल

के आदर्शों में सम्भावित संघर्ष, उनका दमन और उससे उत्पन्न बालक की आरक्षा की भावना पर अवश्य ध्यान देना चाहिए। सुधार आवश्यक है और इस प्रकार की विषमताओं में समता लाने का प्रयत्न करना चाहिए। यह कार्य मन्दगति से पर निश्चयात्मक रूप से होना चाहिए। कोई भी शीघ्रता का कदम, बालक को घर अथवा पाठशाला की स्थिति; और अधिकतर पाठशाला की स्थिति का विद्रोही बना देगा। (क्योंकि घर की संस्कृति बहुत छोटी अवस्था से ही बालक के मस्तिष्क को प्रभावित करती है) इस सम्भाव्य आपत्ति की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

किशोरावस्था के अन्तिम काल में अर्थात् दसवीं कक्षा में किशोर की शिक्षा-सम्बन्धी इच्छाओं और परिवार में संघर्ष हो सकता है। लड़का डॉक्टर बनना चाहता है और जीव-विज्ञान में रुचि रखता है, लेकिन माता-पिता उसे इंजीनियर बनाना चाहते हैं और उसे गणित पढ़ने को बाध्य करते हैं। इससे बालक के हृदय में घृणा का उदय होता और वह पढ़ाई से ही घृणा करने लगता है। बालक परीक्षा में असफल रहता है, और यह सब माता-पिता की अदूरदर्शिता के कारण होता है।

संवेगात्मक संघर्ष आकांक्षा और प्राप्ति के अन्तर से भी उत्पन्न होते हैं। एक विद्यार्थी जिसकी अभिलाषाएं बहुत ऊंची हैं, पर उतनी योग्यता नहीं है, वह भी पिछड़ा रहता है। वह कक्षा में ऊंचा स्थान पाने की आशा करता है, पर जब वह देखता है कि अध्यापक ने उसे बहुत कम नम्बर दिए हैं, वह निराश हो जाता है। इस कठोर वास्तविकता से समायोजन न हो पाने की स्थिति उसमें दुःखदायी संवेगात्मक भार उत्पन्न कर देती है। इस परिस्थिति को रोकने के लिए अध्यापक को अपने प्रोत्साहन के नियमों में अन्तर कर देना चाहिए। अर्थात् प्राप्ति (Attainment) के स्थान पर उन्हें प्रयत्न के लिए प्रोत्साहन देना चाहिए। कल्पना कीजिए कि एक बालक पहले 25% अंक प्राप्त करता है। और दूसरी बार 45% तो इस बालक को उस बालक से जो 65% से 75% या 70% तक ही उन्नति करता है, अधिक प्रशंसा देनी चाहिए।

कक्षा में बार-बार की असफलता परीक्षा के लिए एक स्तर बना देती है। साधारणतः बालक में नैराश्य-भावना जागृत होती है और उसकी आकांक्षा का स्तर नीचा हो जाता है। इस प्रकार बालक अपने प्रयत्न में आत्म-विश्वास खो देता है। चाहे जो कुछ कहा जाए कि 'असफलता ही सफलता की सीढ़ी है।' पर कुछ व्यतिक्रमों को छोड़कर असफलता कभी किसी विद्यार्थी को उत्साह नहीं प्रदान करती। स्पष्ट रूप से एक बालक के उचित संवेगात्मक विकास के लिए विद्यालय की सबसे बड़ी देन यह होगी कि वह बालक की स्वाभाविक बुद्धि, व्यक्तित्व तथा बालक के सामाजिक और आर्थिक स्तर से प्राप्त सुविधाओं, बालक की आकांक्षाओं का वास्तविकता के मूल तथ्यों से समायोजन करने का प्रयत्न करे। बालकों की उन्नति

के मध्य में यह एक ऐसी बाधा है, जिसे जीतने में बालक कठिनाई का अनुभव करते हैं। यह कार्य एक बुद्धिमान शिक्षक व्यक्तिगत अनुशासन और उपदेश से कर सकता है। पर इसमें सफलता पाने के लिए शिक्षक को विद्यार्थी का विश्वास प्राप्त करना चाहिए, जिसे वह उच्च ज्ञान, आदर्श चरित्र, न्याय की भावना, सरलता और सहानुभूति से प्राप्त कर सकता है।

नैराश्योत्पादक संवेग और शिक्षा में उनका महत्त्व

जीवन बहुत कम सदा आनन्द से व्यतीत होता है। अक्सर हम अपने उन्नति के मार्ग में बाधा और रुकावट का अनुभव करते हैं। इन रुकावटों के प्रति हम जिस प्रकार से प्रतिक्रिया (React) करते हैं, उसी से हमारी संवेगात्मक अवस्था होती है। इस प्रकार हमारे व्यक्तित्व का निर्माण होता है। शिक्षा की दृष्टि से हमारा इनसे बहुत सम्बन्ध है, क्योंकि स्थिति की उचित समायोजना से हम बालक में नैराश्य उत्पन्न करने वाले तथा विकास में बाधा डालने वाले संवेगों के प्रभाव को कम कर सकते हैं।

क्रोध

नैराश्यजनक संवेगों में क्रोध सम्भवतः सबसे अधिक साधारण है, और इसका आरम्भ शैशवकाल के प्रारम्भ से ही हो जाता है। जब हम अनुभव करते हैं कि किसी की भूल से हम किसी वस्तु से वंचित हो गए हैं, हम क्रुद्ध हो जाते हैं। तीव्रता की मात्रा के कारण इस साधारण अप्रसन्नता से उत्तेजनापूर्ण क्रोध के कई प्रकार देख सकते हैं। जब हम अनुभव करते हैं कि जो वास्तव में हमें मिलना चाहिए, वह दूसरे पा रहे हैं, तब क्रोध ईर्ष्या का रूप धारण कर लेता है। चेहरा लाल हो जाना, हृदय की गति तीव्र हो जाना आदि क्रोध के दिखाई देने वाले लक्षण हैं। जब हम थके या भूखे होते हैं तो क्रोध बढ़ जाता है। अधिकतर क्रोध केवल एक अकेली प्रतिकूल परिस्थिति का परिणाम नहीं होता है, वरन् अनेक क्रोध उत्पन्न करने वाली स्थितियों के प्रभाव का परिणाम भी होता है। उदाहरण के लिए व्यस्त मनुष्य से बराबर मूर्खतापूर्ण प्रश्न करते जाने पर एक समय वह क्रुद्ध हो उठता है। उपहास और निन्दा बालक को उसी प्रकार क्रुद्ध कर देते हैं जैसे जोर की मार। कभी-कभी क्रोध आन्तरिक उग्रता (Inward Aggression) का रूप धारण कर लेता है। एक क्रुद्ध बालक चिन्ताजनक रूप से बीमार पड़ जाने अथवा अपनी मृत्यु तक की इच्छा करता है, जिससे कि वह अपने पिता की मार का प्रतिशोध ले सके। कभी-कभी उपचेतना में पड़ी हुई यह भावना उसकी भावनाओं को आघात पहुंचाने वाले पुरुष की असुविधा का कारण होती है, अथवा उसके भावों को चोट पहुंचाती है। कभी-कभी उग्रता की

भावना स्थान-परिवर्तन कर देती है। माता-पिता से दण्ड-प्राप्त बालक उन्हें मार नहीं सकता है लेकिन वह अपने छोटे भाई अथवा गुड़िया को मारता है और इस प्रकार अपनी आन्तरिक भावनाओं को प्रकट करता है। सम्भवतः इस कार्य के पीछे भी बालक के उपचेतन में अप्रत्यक्ष रूप से अपने उग्र माता-पिता की भावनाओं को चोट पहुंचाने की भावना रहती है।

सम्भवतः इन नैराश्योत्पादक संवेगों (Frustrating emotions) रोकने का सबसे अच्छा उपाय परिस्थिति को ही रोकना है। यदि अध्यापक निष्पक्ष है और माता-पिता भी इसी प्रकार के हैं, तो ईर्ष्या का कोई अवसर ही नहीं आएगा। दण्ड के समय बालक को यह अनुभव करना चाहिए कि उसे क्यों दण्ड दिया गया है। बालक का नैतिक आत्म (Moral Self) जिसे फ्रायड ने सर्वोत्कृष्ट आत्म (Super ego) कहा है, जिस समय दण्ड दिया जा रहा हो, अपने गुरुजनों की ओट होनी चाहिए। बालक को बहुत कम मारना चाहिए, किन्तु मार का पूर्ण बहिष्कार नहीं किया जा सकता। क्योंकि आलसी बालक को काम में लगाने के लिए तिरस्कार इतना प्रभावशाली नहीं है, जितना कि बालक की पीठ पर उत्साहित करने के लिए थपथपाहट और प्रोत्साहन।

भय

कभी-कभी कार्य की बाधा प्रतिकूल परिस्थिति उत्पन्न कर देती है, और हम अपनी सुरक्षा के लिए भी भयभीत हो जाते हैं। भय अत्यन्त साधारण डर से आरम्भ होकर जड़ कर देने वाले भय तक जाता है। पर प्रत्येक परिस्थिति में परिस्थिति का सामना करने में सहायता की भावना ही भय का मूल कारण होती है। भय के प्रत्यक्ष लक्षण हाथ-पैर का कांपना (कभी-कभी दांत कटकटाने के साथ), स्वेद और जीभ का सूख जाना है। भूख भी कम हो जाती है। एक बालक जो सदा भयभीत रहता है, अधिकाधिक असहायता का अनुभव करता है, तथा किसी भी कार्य को पूर्ण करने में असमर्थ रहता है। हम देखेंगे कि अधिकांश भय बालक की शैशवावस्था में ही उसके मस्तिष्क में जड़ जमा लेते हैं। कुछ लोग छिपकली और मकड़ी-जैसे निर्दोष कीड़ों से डरते हैं। इसका कारण बड़ों के अविचारपूर्ण कार्य होते हैं। क्रोध की भांति भय भी केवल एक स्थिति का परिणाम नहीं होता है। उदाहरण के लिए एक बालक जो नित्य पाठशाला में मारा जाता है, अपने हृदय में स्कूल के प्रति भय का विकास कर लेगा।

यदि शिक्षक सावधान रहें, तो सम्भवतः बहुत बड़े परिमाण में बालकों की संवेगात्मक ग्रन्थियों का उपचार कर सकते हैं। यदि अध्यापक धैर्य और दृढ़ता के साथ अपने कार्य में लगे रहेंगे तो ऐसे अनेक भय जो बालक के मस्तिष्क में जड़

जमाए हैं, इसके पश्चात् मूर्खतापूर्ण प्रतीत होंगे और बालक उन्हें जीतने का प्रयत्न करेगा। धीरे-धीरे जड़ कर देने वाली असहायता की भावना का स्थान आत्मविश्वास ले लेगा। लेकिन तभी जब प्रत्येक भग्नाशा की स्थिति में अध्यापक विश्वास को उत्तेजित करने में समर्थ होंगे। लेकिन अफसोस ! उपचार के प्रयत्न के स्थान पर अधिकतर हम परीक्षा में असफलता, अपमान, तिरस्कार और कभी-कभी उपेक्षा द्वारा भग्नाशा के अवसरों को उपस्थित करके परिस्थिति को और विषम बना देते हैं। स्वभावतः ये बालक के व्यक्तित्व पर अपने अमिट चिह्न छोड़ देते हैं, और स्वस्थ व्यक्तियों को निर्माण करने के स्थान पर हम भीरु, पराधीन व्यक्तियों को उत्पन्न करते हैं, जो कि अपने पैरों पर खड़े होने में भी असमर्थ होते हैं, और अपने आगामी जीवन में किसी भी आपत्ति को सहन करने में सर्वथा अयोग्य रहते हैं।

पलायन और मिथ्या समाधान (Escape and psendo Solution)

कुछ लोग यह दिखलाते हुए कि भय नहीं है, भय के टालने का प्रयत्न करते हैं। कुछ लोग बिना वास्तविकता का सामना करने का साहस दिखलाए, भागने का प्रयत्न करते हैं। ऐसे व्यक्तियों की उपमा खरगोश से दी जा सकती है जो झट अपनी आंख बन्द कर लेता है और आने वाले खतरे को देखता ही नहीं, या हिरण के बच्चे के समान जरा-सी आवाज होते ही भाग जाता है। यदि बालक पाठशाला को कष्टदायक पाता है, वह बल में व्यस्त हो जाता है। अधिकतर उसका यह पलायन, वास्तविक संसार की असमर्थता को स्वप्नों और कल्पना के संसार में पूरा करने का प्रयत्न करने वाले किशोर की भांति कल्पना में होता है। एक बालक जो पर्याप्त शक्तिशाली और दृढ़ नहीं है, अवास्तव कल्पना (Day Dreaming) को एक ऐसी स्थिति के रूप में पाता है जिसमें पड़ने से वह अपने को रोक नहीं सकता। भग्नाशा के परिणामस्वरूप चाहे वह घर में हो अथवा स्कूल में, वह वास्तविकता का सामना करने तथा निराशा के मूल कारणों को हटाने के स्थान पर, अपनी तरंगों की दुनिया में रहने का प्रयत्न करता है। ऐसे व्यक्ति जब बड़े होते हैं, कभी भी वास्तविकता का सामना करने योग्य नहीं हो पाते जब तक वे स्वयं अपनी इस आदत को सुधारने का प्रयत्न न करें।

अनावश्यक क्षतिपूर्ति (Cover Compensation)

कुछ व्यक्ति भिन्न प्रकार से ही अपनी नैराश्यपूर्ण स्थिति के प्रति प्रतिक्रिया करते हैं। हृदय से अपनी असमर्थता और सीमा के प्रति सचेत होते हुए भी वे निश्चितता का प्रदर्शन करते हैं, और कभी-कभी अपनी प्रशंसा भी करते हैं। इस

अहंकार और उग्रता-प्रदर्शन से वे अपनी असमर्थता और वास्तविकता को छिपाने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार की संवेगात्मक अव्यवस्था भी सुधार की अपेक्षा करती है। अन्यथा यह कक्षा में अनुचित संघर्ष उत्पन्न करती है, तथा अनुचित रूप से अहंकारी व्यक्तित्व का विकास होता है। एक बुद्धिमान शिक्षक व्यक्तिगत रूप से उपदेश देकर तथा उसे यह समझाकर कि अहंकार कितना बुरा है, और किस प्रकार समाज-स्वीकृत मार्ग पर चलकर वह वास्तविक श्रेष्ठता को प्राप्त कर सकता है, बालक का सुधार कर सकता है।

शक्तिदायक संवेग (Restoring emotions)

आनन्द (Pleasure) आनन्द की भावना हमें अनेक भग्नाशाजनक स्थितियों से मुक्त कर पुनः शक्ति प्रदान कर आगे बढ़ने के लिये प्रोत्साहित करता है। किसी भी कार्य से प्राप्त सन्तोष हमें आगे बढ़ने और नई बाधाओं को पार करने में शक्तिवर्धक औषधि का कार्य करता है। इसी प्रभाव को उत्पन्न करने के लिए कभी-कभी हमें पारितोषिक अथवा पुरस्कार का प्रलोभन दिया जाता है। वास्तव में यह बालकों में स्पर्धा की भावना जागृत करता है। प्रसन्नता का उदगम् कार्य से हट जाता है, और एक बाह्य वस्तु पर केन्द्रित हो जाता है। कभी-कभी इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है, और येन-केन-प्रकारेण पुरस्कार प्राप्त करना ही बालक के प्रोत्साहन का केन्द्र बन जाता है। वास्तव में उत्तेजना का उद्‌गम स्वयं क्रिया होनी चाहिए, और वस्तु-प्राप्ति ही वास्तव में आनन्ददायक होना चाहिए। कार्य की सफलता कार्य के आत्मविश्वास को दृढ़ता प्रदान करती है। अतः व्यक्ति को दिया हुआ कार्य उसकी शक्ति के अन्दर होना चाहिए। अगर हम अध्यापक की हैसियत से विद्यार्थी को ऐसा कार्य दे सकें जिसकी उपयोगिता प्रत्यक्ष हो और उसकी कार्य-शक्ति के अन्दर हो, तो हम उन्हें वास्तविक आनन्द का सुअवसर प्रदान कर सकेंगे और केवल यही स्कूल के कार्य को योग्य, आनन्दप्रद और उत्तेजना प्रदान करने वाला बना सकेगा।

परिहास

बौद्धिक परिहास ही जीवन का रस है। परिहास हमें अनेक भग्नाशाजनक परिस्थितियों से मुक्ति प्रदान करता है। चट नए आक्रमण के लिए सदा हमारी शक्ति अखण्ड रखता है। आरम्भ से ही बालक में इस संवेग का अवश्य पोषण करना चाहिए। यह बिल्कुल गलत धारणा है कि यदि अध्यापक बालकों के सम्मुख परिहास-भावना का प्रदर्शन करता है, तो वह अपने सम्मान को खो देता है। उसे मजाकिया और मसखरा नहीं होना चाहिए; लेकिन उचित स्थान पर उचित और सभ्य

रीति से किया गया परिहास बालकों के मध्य अध्यापक के सम्मान को बढ़ा देता है, साथ ही आने वाली कठिनाइयों का सामना करने के लिए बालकों को अवसर प्रदान करता है।

प्रेम और सहानुभूति (Affection and Sympathy)

सम्भवतः अध्यापक के सब शक्तिदायक संवेगों में बालक अधिक जिसकी ओर ध्यान देता है वह प्यार है। बालक पाठशाला में भग्न और नैराश्यपूर्ण भावनाओं के साथ प्रवेश करता है। वह अपनी इच्छा के विरुद्ध अपने घर से हटाया जाकर अपरिचित वातावरण में रख दिया जाता है। उसे एक ऐसे सहानुभूतिपूर्ण अध्यापक की आवश्यकता होती है, जो उसे पूर्वस्थिति में लाकर एक-दूसरे घर के समान सुरक्षा-भाव प्रदान कर सके। हो सकता है कि घर की परिस्थिति दुःखदायी हो, उसका पिता निर्दयी हो अथवा मां सौतेली हो जो उसे प्यार न करती हो। सम्भवतः घर के स्थायी झगड़े उसे असुरक्षा-भाव का अनुभव करने को बाध्य कर सकते हैं। यह अध्यापक की सहानुभूति और उसका प्यार ही है जो उसे आवश्यक शरण और सुरक्षा, जिससे वह अपने घर में वंचित है, प्रदान कर सकेगा और उसे अपने व्यक्तित्व का उचित मार्गों से विकास करने में सहायक हो सकेगा। हो सकता है कि उसकी कक्षा के साथी उसके साथ न्यायपूर्ण व्यवहार न करते हों। उसकी शारीरिक अयोग्यता और भद्देपन को दया-भाव और सहानुभूति से न देखकर उसका मजाक बनाने में आनन्द लेते हों। यह उसके लिए पाठशाला को नर्क बना देता है और उसे कक्षा से भागने की ओर आकर्षित करता है। यह अध्यापक का प्रेम और उसकी सहानुभूति ही है जो उसे इनसे अलग होने में सहायता करती है।

प्यार का अभाव ही भद्दे और उपेक्षित बालकों को आवारा बना देता है और सहानुभूति का अभाव ही भग्न घरों के बालकों को पागल कर देता है। छात्रावास और अनाथालय में पले हुए बच्चे कभी-कभी कठोर हृदय और आत्म-केन्द्रित होते हैं। इस त्रुटि का कारण यह है कि अपने पालन-पोषण में वे जीवन-शक्ति प्रदान करने वाली महा-औषधि से वंचित रहे। जिस प्रकार कभी-कभी फसल बढ़ने के लिए मूसलाधार वर्षा से मन्द-मन्द वर्षा अधिक लाभदायक होती है, उसी प्रकार बालक को आवश्यकता से अधिक प्यार नहीं दिखलाना चाहिए, वरन् बालक के प्रति प्यार का प्रदर्शन धीरे-धीरे होना चाहिए।

अध्यापक और माता-पिता का प्रेम, यदि बुद्धिमानीपूर्वक बालक को दिया जाए, तो बालक के साधारण विकास में सहायक होगा। इस प्रकार बालक का कुछ समय बाद, उन बालकों से जिनका पोषण कठोरता के साथ होता है, अधिक शिष्ट बना सकेंगे।

आदत का विकास

बच्चों को भयभीत न करें

भय मन का वह संवेग है, जो आत्मरक्षा की भावना को प्रोत्साहित करता है। किसी प्रकार के अनिष्ट की आशंका भय का संचार करती है। भय उत्पन्न होते ही, व्यक्ति में भयदायक वस्तु, मनुष्य या स्थान से, दूर भाग जाने की प्रवृत्ति जागृत हो जाती है। उसकी चेष्टाएं सशंक हो उठती हैं और वह असाधारण कार्यों की ओर भी अग्रसर हो जाता है। त्राण पाने के लिए वह ऐसे असाधारण एवं साहस के कार्यो को कर सकता था। वस्तुतः भय की अवस्था में मन बलशाली हो जाता है और इस प्रकार शरीर में एक अतिरिक्त शक्ति का अनुभव होता है। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार भयभीत स्थिति में शरीर की एक विशेष ग्रन्थि से, एक प्रकार का पदार्थ निकलता है। वह पदार्थ धमनियों द्वारा समस्त रक्त में प्रवाहित होने लगता है। रक्त में इस पदार्थ के संयोग का प्रभाव यह पड़ता है कि उसमें एक प्रकार की अतिरिक्त तथा अस्थायी शक्ति आ जाती है। यही कारण है कि व्यक्ति भय की अवस्था में, साहसिक एवं कठोर कार्यों को भी आनन-फानन में कर डालता है। प्रायः दस्यु एवं डाकुओं के कठोर कार्य तथा उसके अदम्य उत्साह का उद्‌गम भय ही होता है। घर में घुसा हुआ चोर, पकड़े जाने के भय से, ऊंची दीवार भी फांद जाता है। अपनी इस सफलता से उसे साहस एवं शक्ति मिलती है। इस प्रकार धीरे-धीरे वह भयंकर कार्यों को करता हुआ समाज का सिर-दर्द बन जाता है।

भय के द्वारा पारस्परिक सहयोग की भावना को भी प्रोत्साहन मिलता है। कई भयभीत व्यक्ति बिना किसी प्रयत्न के ही आत्मरक्षा के लिए संयुक्त मोर्चा बना लेते हैं। यद्यपि यह सहयोग अस्थायी होता है किन्तु सहयोग की ओर अग्रसर होने में, इससे पर्याप्त बल मिलता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से प्रत्येक सहयोग में भय की स्थिति अनिवार्य है। बिना भय के सहयोगी भावना का उदय होना ही असम्भव है। तुलसी का 'भय बिनु होय न प्रीति' सिद्धान्त बड़ा वैज्ञानिक है। भक्तों द्वारा इष्टदेव के शक्तिशाली स्वरूप का चित्रण इसी भावना पर आधारित है। वेदकालीन अनेक प्रार्थनाओं में भय की प्रेरणा स्पष्ट लक्षित होती है। यही नहीं, पशुओं, पक्षियों तथा

हिंसक एवं विषैले जन्तुओं पर भी भय का गहरा प्रभाव पड़ता है। भय की स्थिति में हिंसक जन्तु, थोड़ी देर के लिए अपनी जन्मजात प्रवृत्ति का भी त्याग कर देता है। मनुष्यों की तरह पारस्परिक सहयोग की भावना पर आत्मरक्षा का प्रयत्न इनमें भी पाया जाता है। वस्तुतः व्यावहारिक दृष्टि से भय बड़ा उपयोगी होता है। समाज एवं राष्ट्र की व्यवस्था व्यक्तियों में स्थित भय-भावना का ही फल है। बीसवीं सदी के सभ्य संसार में भी शासकों द्वारा दण्ड की व्यवस्था इसी ओर संकेत करती है। इस प्रकार सामान्य भय की स्थिति बड़ी ही उपयोगी तथा ग्राह्य होती है। किन्तु इसके साथ जहां अविवेक और भ्रम का सम्मिश्रण हो जाता है, वहां यह बड़ा घातक हो जाता है। कौन-सा भय हानिप्रद होता है और कौन-सा उपयोगी, इसका विवेचन बड़ा ही कठिन है। व्यक्ति के जीवन में उसके अनुभवों, वातावरण तथा उसकी अपनी शारीरिक एवं मानसिक स्थिति के कारण ऐसे अगणित भयों का ढेर जमा हो जाता है जिसका अलग-अलग विश्लेषण समुद्र के जल-बिन्दुओं की गणना की भांति है। सामान्यतः स्थूल दृष्टि से ही शासन के भय के अतिरिक्त ईश्वर का भय, समाज का भय, गुरुजनों का भय इत्यादि असंख्य भयों से आक्रान्त मानव वस्तुतः अपनी प्रत्येक स्थिति में भय का अनुभव करता है।

इन अनेक वास्तविक तथा काल्पनिक भयों से आक्रान्त होकर ही समाज व्यक्ति में भय की स्थिति आवश्यक मानता है। नृशंस, परम स्वतन्त्र तथा निश्शंक व्यक्ति अनेक समाज-विरोधी कार्यों को करने लगता है। ऐसे व्यक्ति की स्थिति समाज नहीं सहन करता। मनोवैज्ञानिक विश्व के अनेक कार्यों में भय की प्रेरणा देखता है। यही कारण है कि भय कि स्थिति समाज में इतनी स्थायी होती गई है। इसलिए बालकों को भय से बचाने की नहीं, बल्कि उसे पूर्णतः आक्रान्त करने की भावना अशिक्षित अभिभावकों एवं अयोग्य शिक्षकों में अधिक होती है। बालक की स्वाभाविक विध्वंसात्मक एवं चंचल प्रकृति को रोकने का भय एकमात्र साधन माना जाता है। कुछ लोगों का यह तर्क भी है कि भय के कारण मानव-समाज में ही नहीं, बल्कि पशु-पक्षियों तक में रचनात्मक प्रवृत्ति का उदय होता है। वस्तुतः यह ठीक भी है। स्थल पर रहने वाले छोटे-छोटे जन्तुओं द्वारा विचित्र बिलों (सुराखों) का निर्माण अनेक भय-संत्रस्त, उनकी आत्मरक्षार्थ-भावना का ही परिचायक है। बया नामक पक्षी के घोंसला बनाने की कला मानव को भी चकित कर देती है। यही नहीं मानव-सम्पादित संसार का उच्च-से-उच्च शिल्प-स्थापत्य एवं इसी प्रकार की अन्य कलाओं का विकास भय-प्रेरित ही है।

अभी तक जिन लोकोपकारी एवं निर्माणकारी भयों की चर्चा की गई है, वस्तुतः वे व्यापक भय हैं। इन व्यापक भयों के प्रभाव में बालक को रखना हितकारी होता

है। वस्तुतः ऐसे भय बालक के मन पर, वातावरण, निरीक्षण एवं अनुभव के द्वारा स्वतः अंकित हो जाते हैं। शुरू में बच्चा केवल दो ही बातों से डरता है, ऊंची आवाज तथा गिरने की आशंका से। धीरे-धीरे वह जैसे ही सांसारिक जीवन में प्रवेश करने लगता है, अनेक भय प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से उसके मन को प्रभावित करने लगते हैं। इन्हीं भयों से बच्चे को सुरक्षित रखना अभिभावकों का कर्त्तव्य है। यह सच है कि अनेक ऊल-जुलूल एवं हानिप्रद भयों की उत्पत्ति में अभिभावक स्वयं कारण बनते हैं। इस प्रकार बालक के मन पर अनेक ऐसे संकीर्ण तथा व्यक्तिगत भयों की छाप पड़ जाती है जिनका बालक के विकास पर बड़ा कुप्रभाव पड़ता है। संकीर्ण, वैयक्तिक तथा ऐसे हानिकारक भयों की संख्या भी अपार ही है। यह भारत का अभाग्य है कि इसके शत-प्रतिशत बच्चे, ऐसे वातावरण तथा स्थिति में पलते हैं कि उनके मन पर इन हानिप्रद भयों की स्थिति बड़ी दुरूह हो जाती है। बात यह है कि बाल्यावस्था में पड़े भय का प्रभाव अव्यक्त मन में टिक जाता है, जो आगे चलकर उसको अनेक प्रकार से प्रमाणित करता है। बचपन में माता-पिता द्वारा आतंकित व्यक्ति दब्बू बन जाता है और वह किसी भी स्थिति में अपने को निःशंक नहीं कर पाता। अयोग्य शिक्षकों द्वारा बुरी तरह धमकाया हुआ बालक काहिल तथा कायर हो जाता है। इस प्रकार समाज की दृष्टि में दब्बू, काहिल तथा कायर बनकर भी वह अप्रत्यक्ष रूप से बड़ा नृशंस, उद्दण्ड तथा दुःसाहसी हो जाता है ! उसकी विकासात्मक प्रवृत्ति समाजोपयोगी न होकर अन्तर्मुखी एवं समाज-विरोधी हो जाती है। किसी भी ऐसे दुश्चरित्र व्यक्ति का मनोवैज्ञानिक अध्ययन बड़ा दुरूह और साथ ही बड़ा मनोरंजक होता है। बचपन में कुछ व्यक्तियों पर पड़े वैयक्तिक भय बड़े होने पर दूर हो जाते हैं। अधिकांश व्यक्ति प्रायः ऐसे ही भयों से आक्रान्त रहते हैं। कोई चुहिया देखकर कोसों दूर भागता है तो कोई शेर का भी शिकार करने में आनन्द प्राप्त करता है। आश्चर्य तो तब होता है, जब हम एक व्यक्ति में दो परस्पर-विरोधी भावों को देखते हैं। रणक्षेत्र में सैकड़ों वीरों को मार भगाने वाला व्यक्ति भी बिल्ली देखकर बेहोश हो जाता है। प्रौढावस्था में ऐसे आश्चर्यजनक भयों की उत्पत्ति, व्यक्ति के बाल्यकाल के अनुभव हैं। प्रौढ़ावस्था में जो भय व्यक्ति के मन पर प्रभाव डालते हैं, वे प्रायः विवेकपूर्ण होने के कारण वास्तविक तथा उचित होते हैं। इन भयों से व्यक्ति का प्रायः उपकार ही होता है। उपकार न भी हो तो भी इनमें ऐसे किसी अनर्थ की आशंका नहीं रहती है, जैसी आशंका बचपन के समय अंकित भयों से हो सकती है।

इन विचारों के प्रकाश में यह स्पष्ट हो जाता है कि भय के वस्तुतः दो पहलू हैं। पहला वास्तविक, उचित तथा लाभप्रद है और दूसरा अवास्तविक, अनुचित तथा हानिप्रद है। पहले प्रकार का भय मनुष्य के जीवन के अनेक भागों में उसे प्रभावित

कर उसके विकास को समाजोपयोगी और आकर्षक बनाता है और, दूसरे प्रकार का भय व्यक्ति के बचपन में, अविभावकों एवं वातावरण द्वारा उसके बालमन को सदा के लिए आतंकित कर देता है। बचपन में पड़े भय का प्रभाव कभी-कभी विकृत होकर अन्यत्र प्रभाव दिखलाने लगता है। 'हौआ' से डराया हुआ बालक बड़ा होकर किसी अन्य ऐसे जीव या व्यक्ति से डरने लगता है, जिससे न डरना चाहिए। अन्य कारण से उत्पन्न भय अन्यथा आरोपित होकर बड़ा दुःखदायी हो जाता है और चूंकि ऐसे भय का सम्बन्ध अव्यक्त मन से रहता है, अतः उसका दूर होना कठिन हो जाता है। भयों की यह स्थिति कभी-कभी बड़ी भयंकर हो जाती है। व्यक्ति इससे इतना परेशान हो जाता है कि उसका जीवन ही भयप्रद हो जाता है। अव्यक्त मन में छिपे किसी भय के कारण व्यक्ति कभी-कभी अपने आप से ही डरने लगता है। एक बात और है, भय की अधिकता भी बड़ी हानिप्रद है। जहां एक ओर साधारण भय शक्ति और साहस की वृद्धि करता है, वहीं दूसरी ओर उत्पन्न उग्र भय बलहीन बनाकर किंकर्त्तव्यविमूढ़ तथा विक्षिप्त कर देता है। इस प्रकार भय की स्थिति मनुष्य के जीवन में एक समस्या है। उसका रहना भी हानिकारक और न रहना भी चिन्ता का विषय है। ऐसी स्थिति में बालक को अनर्थकारी तथा अनुचित भयों से सुरक्षित रखना बड़ा कठिन कार्य है। जिन अविभावकों एवं शिक्षकों को मनोविज्ञान की समुचित शिक्षा नहीं मिली रहती, उनसे ऐसा होना असम्भव ही है। इसलिए कुछ आधुनिक मनोवैज्ञानिकों का मत है कि जब तक बालक की विचार-शक्ति प्रौढ़ होकर स्वयं इस बात का निर्णय करने में समर्थ नहीं होती कि किससे डरना चाहिए, किससे नहीं, तब तक उसके मन पर किसी भी प्रकार के भय की छाप नहीं पड़नी चाहिए।

बालक ज्यों-ज्यों बड़ा होगा स्वयं ही शिक्षा एवं स्वस्थ वातावरण के प्रभाव से तथा अपनी विचार-शक्ति से वह समुचित भयों से अप्रभावित हो जाएगा। ऐसा होने पर उसका अव्यक्त मन भय से बिल्कुल अछूता रहने के कारण अनर्थकारी न होगा। कभी-कभी प्रौढ़ावस्था में भी अव्यक्त मन पर भय का प्रभाव हो जाता है। किन्तु ऐसे अवसर बहुत कम आते हैं। प्रौढ़ावस्था में प्रौढ़, व्यक्त मन की स्मृतियां बड़ी सजग रहती हैं। अतः अवयक्त मन को भय ग्रहण करने का बहुत कम अवसर मिलता है। दूसरे यदि किसी विशेष कारण से इस अवस्था में अव्यक्त मन भय से प्रभावित हो भी जाए तो उसकी समुचित चिकित्सा की जा सकती है। किन्तु बाल्यावस्था में प्रभावित अव्यक्त मन से भय को दूर करना बड़ा कठिन हो जाता है। इसलिए उचित यही है कि बच्चों को हर तरह से भय से बचाया जाए। उन्हें किसी भी प्रकार से आतंकित करना श्रेयस्कर नहीं होता। प्रायः देखा जाता है कि बालक की किसी मामूली-सी हरकत को बन्द करने के लिए अभिभावक उसे बूरी तरह भयभीत कर

देते हैं। कभी अपना उग्र रूप दिखाकर बालक को आतंकित करने की चेष्टा की जाती है और अज्ञात भय जैसे हौआ, जूजू इत्यादि से उसे डराया जाता है। यद्यपि इस प्रकार बालक की वह हरकत तो बन्द हो जाती है, परन्तु इन प्रदर्शित भयों का बालक के भावी जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ता है। बचपन में माता-पिता द्वारा कल्पित हौआ बालक के जीवन में सर्वत्र व्याप्त हो जाता है। बालक की मानसिक अवस्था का ज्ञान न होने के कारण ही अविभावकों से ऐसा होता है।

बालक के कार्यों में विधि-निषेध का समावेश करने के लिए ही अविभावक उसे डराते-फटकारते हैं। यह कार्य उसे न करना चाहिए और यह कार्य उसे करना चाहिए। इसी भावना से प्रेरित होकर, अविभावक बालक की हित-चिन्ता से उसे अनुचित कार्यों से विरत करने के लिए भयभीत करते हैं। प्रत्यक्षतः अविभावकों के इस उद्देश्य की साधारणतः सिद्धि तो हो जाती है; किन्तु उससे वास्तविक लाभ कुछ भी नहीं होता, उलटे इसका बड़ा कुप्रभाव पड़ता है। बालकों को किसी कार्य से विरत करने तथा किसी कार्य में लगाने के लिए भय का आश्रय नहीं लेना चाहिए। यदि हम इन पर तनिक भी ध्यान दें और बालक की रुचि का अध्ययन कर उसे प्रेरित करने की चेष्टा करें तो अधिक सफलता मिल सकती है। भय के बिना भी हम बालक को कुपथ से बचाकर सन्मार्ग पर ले जा सकते हैं। किसी कार्य में बालक के प्रवृत्त होने का कारण उस ओर उसकी रुचि ही है। यदि हम उसे किसी कार्य से अलग करना चाहते हैं, तो बालक के सामने उससे भी रुचिकर कार्य प्रस्तुत कर ऐसा कर सकते हैं। यद्यपि यहां बालक की रुचि का अध्ययन कुछ प्रयत्नसाध्य अवश्य है; किन्तु यदि हम उसे अपना कर्त्तव्य समझकर तनिक ध्यान दें तो विशेष कठिनाई न होगी। अच्छे कार्यों की ओर बालक की रुचि बढ़ाने के लिए उसकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करनी चाहिए। बालक आत्मश्लाघा की भावना से जितना प्रेरित किया जा सकता है, उतना भय या उपदेश से नहीं। इस प्रकार बिना भय-प्रदर्शन के ही हम बालक को इच्छित पथ पर ले जा सकते हैं। ऐसा बालक आगे चलकर चरित्रवान तथा उच्च व्यक्तित्व-सम्पन्न होता है। वह हौआ से नहीं अपितु कुपथ से डरता है। किसी अदृश्य भय-भावना से नहीं अपितु उच्चादर्शों से अभिभूत रहता है।

बालक को इच्छित पथ पर ले जाने का एक ढंग और होता है। बच्चों की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है कि वे अपने स्नेहदाता के बड़े कृतज्ञ होते हैं। यदि आप उनसे वास्तविक स्नेह करते हैं, तो निश्चय ही वे आपकी इच्छाओं के विरुद्ध नहीं जा सकते। इस प्रकार प्रशंसा, स्नेह एवं धैर्य के साथ यदि बालक को उचित दिशा की ओर ले जाएं तो भय-प्रदर्शन की कोई आवश्यकता नहीं पड़ेगी। इससे बालक अनुचित तथा हानिकर भय-भावना से बचकर स्वतन्त्रतापूर्वक विकसित होगा।

बच्चों में विश्वास का विकास

विश्वास एक ऐसा भाव है, जो प्रायः विकसित प्राणियों में पाया जाता है। जहां तक प्राणीवर्ग का एक-दूसरे से सम्पर्क होता है विश्वास ही उसका आधार होता है। मानव परस्पर एक-दूसरे का किसी-न-किसी रूप में विश्वास तो करता ही है, पशुओं में भी वह विश्वास करता है तथा पशु मानव का भी विश्वास करते हैं। यही नहीं यदि यह कहा जाए कि सृष्टि का संचालन बहुत-कुछ विश्वास के आधार पर हो रहा है, तो अनुचित न होगा। बड़े-बड़े हिंसक जन्तु भी विश्वस्त होकर अन्य प्राणियों तथा मानव के साथ निर्भीक भाव से रहते हैं। व्यवहार में यदि हम विश्वास को खोजने लगते हैं तो पग-पग पर उसका अस्तित्व हमें मिलता है। बल्कि मानव का प्रत्येक व्यवहार विश्वास की ही भावना पर टिका हुआ मिलता है और वह उसी के द्वारा संचालित होता है। समाज में एकता, शान्ति तथा पारस्परिक सहानुभूति विश्वास की ही भावना पर आधारित है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि विश्वास जैसे भाव की उपयोगिता समाज के लिए बड़ी महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति में विश्वास की भावना किसी-न-किसी रूप में वर्तमान रहती है, तथापि प्रत्येक व्यक्ति में इसकी मात्रा अलग-अलग होती है। कोई सहज ही में दूसरों पर विश्वास कर लेता है तो कोई हृदय निकालकर सामने रख देने पर भी सन्देह की दृष्टि को नहीं छोड़ता। ये दोनों ही स्थितियां उचित नहीं होतीं। पहला व्यक्ति सहज विश्वासी होने के कारण खलों (दुष्टों) के जाल में फंस सकता है तो दूसरा लोगों की घृणा का पात्र बनता है। विश्वास की भावना व्यक्ति की अर्जित भावना है। इसलिए इसका बहुत-कुछ सम्बन्ध व्यक्ति की बाल्यावस्था के वातावरण या उस समय की अन्य परिस्थितियों से रहता है। वस्तुतः विश्वास की भावना मूलतः सभी में एक प्रकार ही होती है किन्तु परिस्थितियों तथा अनेक उचित, अनुचित प्रसंगों एवं अन्य किन्हीं कारणों से उसका विकास प्रत्येक व्यक्ति में भिन्न-भिन्न प्रकार का हो जाता है।

बच्चा प्रारम्भ में बड़ा अविश्वासी होता है। वह किसी की भी बात को यों ही मानने के लिए तैयार नहीं होता। यद्यपि मूलरूप में उसके भीतर विश्वास की भावना वर्तमान रहती है; तथापि वह ऐसा करता है। इसका एक कारण है, जोकि स्वाभाविक है। हम लोग ही यदि किसी बिल्कुल अपरिचित स्थान पर जाएं तो तब तक किसी व्यक्ति पर विश्वास नहीं कर सकते, जब तक उसे अच्छी तरह से समझ न लें। वस्तुतः विश्वास का एक मूल आधार होता है। हम जिस सम्बन्ध में जितनी अधिक जानकारी प्राप्त करते हैं, उस सम्बन्ध में उसके अनुसार ही विश्वास करते हैं। किसी अनजानी वस्तु या अनजाने व्यक्ति पर विश्वास नहीं किया जा सकता। इसलिए विश्वास का आधार तत्सम्बन्धी-ज्ञान तथा व्यवहार द्वारा प्राप्त अनुभव है। किसी

व्यक्ति की यदि दो-एक बार परीक्षा कर लेते हैं, और यदि वह खरा उतरता है तो हमारा विश्वास उस पर टिक जाता है। तो विश्वास के सम्बन्ध में पहली आवश्यकता पड़ती है जानकारी की और दूसरी अनुभव की। बच्चा इन दोनों में ही प्रायः अपूर्ण होता है। उसे किसी व्यक्ति, वस्तु या घटना की न तो उतनी जानकारी ही रहती है और न अनुभव ही। अविश्वास की यह भावना बच्चे में बड़े व्यापक पैमाने पर होती है। केवल व्यक्तियों तथा घटनाओं तक ही नहीं, किसी भी प्रकार के सहज ज्ञान को वह सहज ही में विश्वासपूर्वक स्वीकार नहीं करता। फल यह होता है कि उसकी ज्ञान-पिपासा शान्त नहीं होती। यही कारण है कि वह किसी भी सम्बन्ध में कुछ जानकारी प्राप्त कर लेने पर पुनः उसे आजमाता है और जब प्रभूत प्रमाण उसे मिलते हैं, तभी उसके प्रति विश्वास जमाता है। इस प्रकार उसकी अविश्वास की भावना ज्ञान-क्षेत्र में बड़ी उपयोगी सिद्ध होती है। इसी के सहारे वह वस्तु के तत्त्व तक पहुंचने का प्रयत्न करता है। बाहरी पदार्थों को आप छोड़ दें, उन पर बच्चा अविश्वास तो करता ही है वह अपनी इन्द्रियों पर भी सहसा विश्वास नहीं करता। किसी खिलौने को देखकर ही वह सन्तोष नहीं करता। उसे उठाकर उसका स्पर्श करता है, मुंह में डालता है। सब प्रकार से जांच कर लेने के बाद उसे विध्वंस करके उसकी स्थिति के सम्बन्ध में पूर्ण जानकारी प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। कहना न होगा कि क्रियाएं बालक की ज्ञान-वृद्धि में बड़ी सहायक होती हैं और यह सब उसकी अविश्वास की भावना का ही परिणाम है। धीरे-धीरे जैसे ही बच्चे की जानकारी तथा अनुभव में वृद्धि होने लगती है, उसका विश्वास बढ़ने लगता है। प्रथमतः वह अपनी इन्द्रियों पर विश्वस्त होता है। अनेक वस्तुओं को वह केवल देखकर ही वस्तुस्थिति के सम्बन्ध में विश्वस्त हो जाता है। अनुभव के आधार पर बढ़ करके अनेक लोगों पर भी विश्वास करने लगता है। यद्यपि प्रत्येक सदस्य के प्रति उसका विश्वास भिन्न प्रकार का होता है फिर भी किसी-न-किसी रूप में वह परिवार के सभी सदस्यों पर विश्वास करने लगता है। इस अवस्था तक वह घर के बाहर वालों पर बिल्कुल विश्वास नहीं करता। इसीलिए वह ऐसे लोगों के समीप जाने में हिचकिचाहट का अनुभव करता है। किसी-किसी बच्चे में विश्वास की मात्रा शीघ्र बढ़ती है तथा किसी में उसका विकास धीरे-धीरे होता है। इसके दो कारण होते हैं। अनुभव और जानकारी में वृद्धि होने पर विश्वास का विकास तेजी से बढ़ता है और कभी-कभी बच्चे का स्वभाव ही सहज विश्वासी हो जाता है। पहली स्थिति तो ठीक है; किन्तु दूसरी स्थिति उचित नहीं होती। सहज ही में विश्वास कर लेने की प्रवृत्ति से व्यक्ति का जीवन भय से खाली नहीं रहता। व्यवहार में व्यक्ति को अनेक स्वभाव वाले व्यक्तियों के सम्पर्क में आना पड़ता है। इनमें से कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो किसी का विश्वास

प्राप्त कर उसे हानि पहुंचाने की भी चेष्टा करते हैं। सहज ही विश्वास करने वाला व्यक्ति समाज के ऐसे शत्रुओं से ठगा जाता है। इसलिए बच्चे में जैसे ही इस प्रकृति का उदय हो उसे रोकने का प्रयत्न करना चाहिए। किन्तु यहां एक अत्यन्त सावधानी की आवश्यकता पड़ती है। ऐसा न हो कि उसकी सहज विश्वास वाली प्रवृत्ति को रोकने में उसकी विश्वास-भावना को गहरी ठेस पहुंच जाए। ऐसा होने पर वह प्रकृति और भी बुरी स्थिति में पहुंच जाती है।

अर्थात् वह बच्चा संदिग्ध प्रकृति का हो जाता है। ऐतिहासिक मुगल-सम्राट औरंगजेब इस कोटि का व्यक्ति था। वह किसी पर विश्वास नहीं करता था। ऐसे व्यक्ति की मानसिक स्थिति बड़ी अशान्त रहती है। उसे एक मिनट भी शान्ति नहीं मिलती। अनेक सन्देहों के बीच उसका मन पिसा-सा जाता है। कभी-कभी यह अवस्था और विकृत हो जाती है। फलतः व्यक्ति अपने-आप पर अविश्वास करने लगता है और अन्ततः उसका जीवन पागलपन के रूप में बदलकर नष्ट हो जाता है। इसलिए अविभावकों को बच्चे की यह स्थिति रोकनी चाहिए। चाहिए यह कि हम उन कारणों को ही न उपस्थित होने दें जिससे बच्चा सहज ही विश्वास करने की प्रवृत्ति की ओर उन्मुख हो।

जो बच्चा ऐसे विश्वस्त वातावरण में पलता है, जहां उसे अविश्वास या सन्देह करने का अवसर ही नहीं मिलता, जिस बच्चे को सर्वत्र विश्वास ही मिलता है। वह स्वभावतः सहज विश्वास करने वाला बन जाता है। हमारे इस कथन का तात्पर्य कदापि यह नहीं है कि आप बच्चे के समक्ष संदिग्ध वातावरण उपस्थित करें। ऐसा करना तो उसके लिए और भी हानिकारक होगा। किन्तु यदि बच्चे के समक्ष स्पष्ट वातावरण तथा उपस्थिति का पूरा ब्यौरा आता रहे तो वह विशेष रूप से उसको ग्रहण करता है। कहने का तात्पर्य यह कि उसका अनुभव कुछ ऐसा हो, जो सभी तथ्यों की जानकारी प्राप्त करावे। एक पक्षीय अनुभव बच्चे को धोखा दे सकता है। यदि बच्चे को सच बोलने की शिक्षा दी जाए, तो झूठ के सम्बन्ध में भी उसे कुछ जानकारी मिलनी आवश्यक है। अर्थात् जहां उसके विश्वास की भावना को प्रोत्साहन मिलना चाहिए वहीं उसे अविश्वास से बिल्कुल अछूता नहीं रखना चाहिए। उसे ऐसा कुछ वातावरण मिलना चाहिए जिससे वह अपने अन्दर विश्वास की भावना को तो दृढ़ करे, साथ-ही-साथ अविश्वास सम्बन्ध में भी जानकारी प्राप्त करे। यदि विश्वास और अविश्वास दोनों में रमने का अवसर मिलता रहेगा तो वह धीरे-धीरे उन अनुभवों के आधार पर यह स्वयं जान लेगा कि कहां तक विश्वास करना चाहिए और कहां तक नहीं।

एक बात और होती है, किन्हीं कारणोंवश बचपन में यदि किसी के अन्दर

आत्महीनता का भाव जड़ जमा लेता है तो वह वयस्क होने पर सहज विश्वास करने की भावना के रूप में बदल जाता है। बात यह है कि सहज विश्वास करने का अर्थ होता है, विश्वस्त व्यक्ति या वस्तु के अभाव में आ जाना। इसलिए आत्महीनता की भावना भी कभी-कभी इस रूप में सामने आ जाती है। अतः बच्चों में आत्महीनता के भाव भी कदापि जाग्रत न होने पावें, ऐसी चेष्टा होनी चाहिए कि सहज में विश्वास करने की प्रवृत्ति बच्चों में बहुत कम आती है; क्योंकि इसके लिए जो कारण ऊपर बताए गए हैं, वे बहुत कम उपस्थित होते हैं। चूंकि बच्चा बड़ा अविश्वासी होता है इसलिए प्रभूत मात्रा में इन कारणों तथा उसके अनुकूल वातावरण उपस्थित रहने पर सहज विश्वास की भावना उदय होती है। अधिक सम्भावना तो बच्चे के कठोर अविश्वासी बन जाने की ही रहती है। इसलिए प्रयत्न यही होना चाहिए कि बच्चा अपनी इस स्वाभाविक प्रवृत्ति को त्याग कर विश्वास करना सीखे, क्योंकि इसके बिना उसका जीवन अशान्त तथा संकटपूर्ण हो जाएगा। इसलिए उन कारणों पर भी प्रकाश डाल देना आवश्यक है जिससे बच्चे की अविश्वास-भावना दृढ़ होकर स्थायी बन जाती है; किन्तु उससे वास्तविक लाभ कुछ भी नहीं होता उलटे इसका बड़ा कुप्रभाव पड़ता है। बालकों को किसी कार्य से विरत करने तथा किसी कार्य में लगाने के लिए भय का आश्रय नहीं लेना चाहिए। यदि हम इस पर तनिक भी ध्यान दें और बालक की रुचि का अध्ययन कर उसे प्रेरित करने की चेष्टा करें तो अधिक सफलता मिल सकती है। जानकारी तथा अनुभव के आधार पर जब बच्चा धीरे-धीरे विश्वास करने की प्रवृत्ति की ओर बढ़ता है तब वह अपने में एक प्रकार की शान्ति का अनुभव करता है। अब तक सन्देहों से घिरा रहने के कारण उसका बाल-मन बड़ा बोझिल था, विश्वास की भावना से उसमें शान्ति का संचार होता है। किन्तु अभी वह विश्वास का प्रयोग परीक्षा तथा अनुभव के लिए ही करता है। उसके इस परीक्षण-काल में यदि उसे अपने इस विश्वास के कारण धोखा खाना पड़ता है, तो इसका प्रभाव बड़ा प्रतिकूल पड़ता है। वह विश्वास से खिंच जाता है और धीरे-धीरे इस प्रकार की कई घटनाओं से उसके अविश्वासी स्वभाव का सृजन होने लगता है। डेढ़-दो वर्ष के बच्चे के हाथ से आप खिलौना मांगें, प्रथम तो वह यदि आप में उसका अच्छी तरह विश्वास न होगा तो खिलौना देगा ही नहीं, किन्तु वह यदि आप पर विश्वास करता है तो दे देगा। खिलौना लेकर आप भाग जाने का, उसे फेंक देने का स्वांग करें तो वह आपसे तुरन्त खिलौना ले लेगा और फिर आपको न देगा। वह आपके स्वांग को नहीं समझ पाया था। थोड़ा-बहुत विश्वास जो उसने आप पर जमाया था, उसे आपने थोड़े-से खेल में ही खो दिया। यह मैंने एक साधारण-सा उदाहरण दिया। ऐसे ही अनेक वातावरण के कारण बच्चा अविश्वासी हो जाता है। यह अविश्वास कभी-कभी

व्यापक और कभी-कभी एकांगी होता है।

पहले यह संकेत किया जा चुका है कि किन्हीं बच्चों में विश्वास की भावना वेग से बढ़ती है और किन्हीं में धीरे-धीरे, जिस बच्चे में विश्वास की गति मन्द होती है; उसे समझना चाहिए कि वह ज्ञानार्जन और अनुभव में आगे नहीं बढ़ रहा है। बच्चे की ज्ञान-वृद्धि की गति आंकने के लिए उसके विश्वास का अध्ययन बड़ा उपयोगी होता है। किन्तु यह तभी होता है जब बच्चे के विश्वास को उसके ज्ञान के आधार पर स्वतः विकसित होने का अवसर मिले। यह उसके विश्वास का स्वाभाविक विकास है। आश्वासन द्वारा या प्रत्यक्ष विश्वास का उपदेश बच्चे के लिए न तो उपयोगी होता है और न ऐसा विश्वास स्थायी ही होता है। वस्तुतः अतिविश्वास, अविश्वास जैसे उसके विकृति-रूप विश्वास के अस्वाभाविक विकास में ही होते हैं। स्वतः ज्ञान तथा अनुभव द्वारा विकसित विश्वास दृढ़ तथा उपयोगी होता है और उसमें विकृति आने की भी कोई सम्भावना नहीं रहती। इसलिए बच्चे में विश्वास पैदा करने का उत्तम साधन है, उसे ज्ञान तथा अनुभव देना। ज्ञान तथा अनुभव के प्रकाश में अर्जित विश्वास कभी धोखा नहीं खाता और ऐसे विश्वास तथा अविश्वास का हृदय की अन्य भावनाओं पर भी कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अन्य प्रकार से अर्जित विकृत-विश्वास या अविश्वास का हृदय पर भी प्रभाव पड़ता है। जैसे अविश्वासी व्यक्ति का हृदय कठोर होना तथा विश्वास का अत्यन्त सरल होना। औरंगजेब की कठोरता सर्वविदित है। उसका अविश्वास ज्ञान तथा अनुभव के आधार पर नहीं बढ़ा था बल्कि विघटित आघातों एंवं वातावरणों ने उसका सृजन किया था। शिवाजी भी अविश्वासी ही कहे जा सकते हैं। यद्यपि वे औरंगजेब की विकृत अवस्था की तुलना के योग्य नहीं हैं; पर समयोचित उत्तम अविश्वास की भावना उनमें भी थी अन्यथा वे अफजल खां से ठगे जाते। किन्तु इतना अविश्वासी होते हुए भी उनकी सरलता अपूर्व थी। स्पष्ट है कि शिवाजी के विश्वास तथा अविश्वास का विकास ज्ञान तथा अनुभव के आधार पर हुआ था, इसीलिए उसका प्रभाव हृदय पर नहीं पड़ा।

कहने का तात्पर्य यह है कि विश्वास के स्वाभाविक विकास के लिए यह आवश्यक है कि बच्चे की ज्ञानार्जन प्रवृत्ति तथा अनुभव को विकसित किया जाए। प्रत्यक्षतः उसके विश्वास या अविश्वास को छेड़ना उचित नहीं होता। यह भी ध्यान रखना चाहिए कि विश्वास की आवश्यकता से कम आवश्यकता अविश्वास की नहीं है। बल्कि समान मात्रा में जब दोनों प्रवृत्तियां विद्यमान रहती हैं तभी उनकी वास्तविक उपयोगिता भी होती है। इनमें से किसी एक की वृद्धि स्वयं तो भयप्रद हो ही जाती है साथ-ही-साथ वह दूसरी को बिल्कुल दबा देती है। ऐसी स्थिति बड़ी जटिल हो जाती है। बढ़ी हुई भावना स्वयं को विकृत तो कर ही देती है उसके द्वारा दबा दी

गई दूसरी भावना का भी प्रभाव बड़ा प्रतिकूल पड़ता है। अस्वाभाविक रूप से विकसित होने के कारण ऐसी विषमता उत्पन्न होती है। स्वाभाविक विकास में दोनों की मात्रा समान रहती है। वस्तुतः यही स्थिति उत्तम चरित्र के निर्माण में उपयोगी भी होती है। शिवाजी में दोनों (अविश्वास-विश्वास) की स्थिति समान रूप से थी। इसीलिए दोनों का यथावस्था उपयोग होता रहा।

बच्चों की कल्पना-शक्ति का विकास

कल्पना बड़ी सुखद होती है, क्योंकि उसकी सीमा नहीं होती। हम असम्भव कल्पनाएं भी किया करते हैं और उनमें हमारे मन को एक प्रकार की शान्ति, सुखद शान्ति मिलती है। मानव-जीवन में कल्पना का बड़ा व्यापक महत्त्व है। कल्पना को पहले लोग मनुष्य के मन का फितूर समझते थे। बेकार बैठे लोगों के दिन काटने का वह एक साधन मानी जाती थी। किन्तु मनोविज्ञान ने मानव-जीवन में कल्पना की उपयोगिता का अध्ययन किया है। मनोविज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि व्यक्तित्व-निर्माण में तथा मन के संतुलन को ठीक रखने में कल्पना का प्रमुख हाथ है। जिस रूप में वह उपस्थित होती है, भले ही उसका वह रूप अवास्तविक हो, किन्तु उसका आधार वास्तविक होता है। कल्पना केवल निरी कल्पना नहीं, वह हमारे अनुभवों का नूतन संस्करण है। अपने अनुभवों के प्रकाश में मनुष्य कल्पनाओं की सृष्टि करता है और उसके द्वारा अपने मन को, अपनी भावनाओं को प्रेरित करता है। असफलताओं की बाढ़ में मुरझाया हुआ मानव-मन, कल्पना से ही प्रेरणा तथा उत्साह प्राप्त करता है। जीवन में कभी भी सुख न प्राप्त करने वाला व्यक्ति भी इसी कल्पना पर अपनी आशा लगाए जीवित रहता है। यही नहीं, कल्पना के ही द्वारा मनुष्य अपने भविष्य को देखता है और उसका निर्माण करता है, वस्तुतः कल्पना मानव-जीवन की संगिनी है। संगिनी ही नहीं, वह समस्त मानसिक संसार को आगे बढ़ाने वाली पथ-प्रदर्शिका है। मानव की प्रगति का इतिहास कल्पना की प्रगति का इतिहास है।

कल्पना के आधार, इन्द्रियों द्वारा प्राप्त प्रत्यक्ष ज्ञान के विविध विषय ही होते हैं। जिनका कभी इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष नहीं होता, उनकी कल्पना नहीं होती। क्षीरसागर की कल्पना हम इसलिए करते हैं क्योंकि क्षीर और सागर का हमने अलग-अलग प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त किया है। केवल दोनों के संयोजन के ढंग में ही कल्पना है। वस्तुतः कल्पना का यही रूप है। उसका सारा सामान वास्तविक तथा पुराना होता है, केवल उनसे निर्मित दृश्य ही नूतन तथा कभी-कभी अवास्तविक होते हैं। मानव-शिशु जैसे ही इन्द्रिय-जन्य-ज्ञान का साक्षात्कार करने लगता है, वह कल्पनाओं के पीछे दौड़ने

लगता है। वयस्क की अपेक्षा यद्यपि इसका ज्ञान सीमित तथा अधूरा रहता है, फिर भी वह वयस्क की तुलना में कल्पनाएं अधिक करता है। बात यह है कि जिन स्थितियों में कल्पना उत्पन्न होती है, वे स्थितियां बाल-मन को विशेष सुलभ होती हैं। कल्पना के लिए पहली स्थिति मन का खाली रहना है। यदि मन किसी काम में संलग्न है, तो कल्पना नहीं करता। परन्तु यदि वह यों ही अवकाश पर है, तब तो उसके लिए एकमात्र कल्पना ही सहारा होती है। कहना न होगा कि बच्चा वयस्क की तरह अन्य किन्हीं कार्यों में बहुत कम व्यस्त रहता है। दूसरी स्थिति है असन्तोष। जब व्यक्ति में असन्तोष की अधिकता हो जाती है या उसकी कोई इच्छा अपूर्ण रह रही जाती है तो कल्पना उसके असन्तोष को दूर करने का प्रयत्न करती है तथा इच्छापूर्ति के लिए काल्पनिक सफलता उपस्थित करती है। बच्चा अविकसित होने के कारण बहुत ही अपूर्ण रहता है। वह अपनी इस अपूर्णता की पूर्ति के लिए सतत प्रयत्नशील रहता है, किन्तु जैसा वह चाहता है, जल्दी ही पूर्ण विकास होता तो वह सम्भव नहीं होता। इसलिए वह नाना प्रकार की कल्पनाओं में मग्न होकर अपने भावी व्यक्तित्व की रूपरेखा खींचा करता है।

बालक और वयस्क की कल्पना में आकाश-पाताल का अन्तर होता है। सबसे बड़ी विशेषता यह होती है कि बच्चा जितना ही छोटा होता है, उसकी कल्पनाएं उतनी ही अस्थायी होती हैं। वह कल्पना करता जाता है और उसके स्वरूप को भूलता जाता है। किन्तु एक बात होती है, इन भूली हुई कल्पनाओं का प्रभाव उसके अव्यक्त मन पर पड़ता है और तदनुसार वह बालक की प्रगति को प्रमाणित करती है। इसलिए वयस्कों की अपेक्षा बच्चों की कल्पना अधिक प्रभावशालिनी तथा उपयोगी कही जा सकती है। दूसरी विशेषता यह होती है कि वयस्क यथासम्भव-असम्भव कल्पनाओं की सृष्टि कम करता है। ऐसी बातों की कल्पना, जो उसके जीवन में होनी असम्भव होती है, वयस्क बहुत कम करता है। यद्यपि इन असम्भव कल्पनाओं में आनन्द उसे भी मिलता है, किन्तु बच्चों जैसा नहीं। बच्चा अपनी कल्पनाओं के सम्बन्ध में यह नहीं सोचता कि क्या ये जीवन में सम्भव भी हैं ? वह तो उमंग में आकर असम्भव से भी आगे की कल्पना कर डालता है और इसीलिए उसे वयस्क की अपेक्षा कल्पना में बड़ा आनन्द मिलता है। पक्षियों के साथ आकाश में उड़ने की वह कल्पना करता है तथा महापुरुषों को कहानी के आधार पर, अपने को जगत्पूज्य तथा संसार-विजेता के रूप में भी, कल्पना-संसार में देख लेता है। चूंकि वयस्क ऐसी कल्पनाओं को असम्भव तथा हास्यास्पद समझता है, इसलिए यदि वह तरंग में आकर ऐसी कल्पना करता भी है तो उसके मन को न तो उतना आनन्द ही मिलता है और न इन कल्पनाओं का कोई प्रभाव ही पड़ता है। किन्तु बच्चा इन कल्पनाओं से पर्याप्त

आनन्द भी लेता है और उसके भावी जीवन पर इनका गहरा प्रभाव भी पड़ता है। बात यह है कि बच्चा केवल कल्पना करके ही नहीं रह जाता, बल्कि जिन कल्पनाओं में उसे आनन्द मिलता है उन्हें जीवन में उतारने के लिए वह तुरन्त प्रयत्नशील हो जाता है। किसी को घोड़े पर चढ़ा देख वह स्वयं घुड़सवार होने की कल्पना तो करता ही है साथ ही इसके लिए समय तथा परिस्थिति की प्रतीक्षा किए बिना वह लकड़ी के घोड़े से ही काम चला लेता है। स्याही की मूंछों का निर्माण कर वह वयस्क होने की कल्पना को चरितार्थ कर लेता है। कहने का तात्पर्य यह है कि बच्चा कल्पनामात्र में उपयोग नहीं करता बल्कि उस कल्पना को अपने जीवन में लाने के लिए लालायित हो उठता है। कल्पना द्वारा प्राप्त उसकी यह लालसा उसे आगे बढ़ाने में पर्याप्त सहायता करती है।

बच्चों का सांसारिक अनुभव बहुत कम होता है और बिना किसी पूर्व अनुभव के कल्पनाओं का उदय होना असम्भव होता है, इसलिए प्रायः वे सुनी-सुनाई कहानियों के आधार पर विशेष कल्पना किया करते हैं। इसीलिए बालकों के लिए कहानी की बड़ी उपयोगिता है। इन कहानियों के आधार पर उत्पन्न कल्पनाएं ही बच्चे के जीवन की दिशा निश्चित करती हैं। अनेक महापुरुषों के जीवन का अध्ययन करने पर हमें स्पष्ट ज्ञान होता है कि बचपन में कहानियों के आधार पर उन्होंने जिन उच्च कल्पनाओं में विचरण किया तदनुसार ही वे अपने व्यक्तित्व का निर्माण कर सके हैं। शिवाजी की मां उन्हें गोद में लेकर देशभक्तों, वीरों तथा अन्य महापुरुषों की कहानियां सुनाया करती थीं। वे जिन महापुरुषों की कहानी सुनते रहे उन्हीं के समान स्वयं को बनाने की कल्पना करते रहे। यद्यपि वे वैसे नहीं बने, किन्तु जो बने वह उनसे कम नहीं था। यह भी निश्चित है कि महापुरुषों की कहानी से उन्होंने अपने व्यक्तित्व के सम्बन्ध में जो कल्पनाएं की होंगी, वे सभी उनके जीवन में ही उतरी होंगी, किन्तु शिवाजी जिस रूप में आज हमारे हृदय में विराजमान हैं, उनके उस रूप की निर्माता वे कल्पनाएं ही हैं। वातावरण की विभिन्नता के कारण प्रत्येक बच्चे में कल्पना के विविध रूप होते हैं। सभी बच्चे एक ही कल्पना नहीं कर सकते। कोई बच्चा सैकड़ों वीरों के बीच में दहाड़ने वाला योद्धा होने की कल्पना करता है तो कोई प्रबल तर्क तथा प्रमाणों द्वारा सभा को स्तब्ध कर देने वाला विद्वान होने का स्वप्न देखता है। दोनों ही अपनी-अपनी कल्पना के आधार पर अपना कार्य-क्रम निश्चित करते हैं। भले ही पहला बच्चा वैसा वीर तथा दूसर बच्चा वैसा विद्वान न बन सके, जैसा उसने सोचा था, किन्तु यह निश्चित है कि पहला व्यक्ति शारीरिक योग्यता तथा दूसरा बौद्धिक योग्यता में दक्षता प्राप्त करेगा। कहने का तात्पर्य यह है कि बच्चों के जीवन का रूप उनकी कल्पनाओं के ही ऊपर बहुत-कुछ निर्भर होता है।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि जिन बच्चों की कल्पना को उचित प्रोत्साहन तथा उचित आधार नहीं मिलता वे या तो अनुचित कल्पनाओं के आधार पर पथभ्रष्ट हो जाते हैं या आकाश-पुष्प की तरह ऊंची उड़ान भरने के अभ्यासी हो जाते हैं। दोनों ही अवस्थाएं बच्चे के जीवन को नष्ट कर देती हैं। पहली अवस्था में वह दुराचारी, निन्द्य तथा नीच कर्मों का करने वाला बन जाता है। फलतः समाज में उसका जीवन भार हो जाता है। दूसरी अवस्था बच्चे को आलसी, कर्त्तव्यहीन तथा बुद्धू बना देती है। ऐसा बच्चा सर्वदा कल्पना के ही संसार में विचरण करता रहता है। सुखद एवं विस्मयकारी कल्पनाओं में डूबे रहने का अभ्यासी उसका मन, वास्तविक संसार से विमुख हो जाता है। सरल-से-सरल कार्यों की पूर्ति की भी क्षमता में उसका मन नहीं लगता। वस्तुतः जीवन-क्षेत्र में उतरकर कल्पनाओं के आधार पर वास्तविक जीवन के निर्माण में उसकी रुचि ही नहीं होती। बच्चे की कल्पना को इन रूपों में परिवर्तित करने का उत्तरदायित्व वातावरण पर है। बात यह है कि मन की यह विशेषता है कि वह कल्पनाओं से रहित हो ही नहीं सकता। उसकी अद्भुत चंचलता उसे खाली बैठने का अवसर ही नहीं देती। ऐसी अवस्था में यदि जीवन-क्षेत्र को स्पर्श करने वाली कल्पनाओं के लिए उसे आधार या प्रेरणा नहीं मिलती, तो वह या तो बुरे प्रभाव में आकर निम्नकोटि की कल्पनाएं करने लगता है या जीवन-क्षेत्र से दूर ऊंची उड़ानें मारने लगता है। इसलिए अभिभावकों को बच्चे की कल्पना को जीवन-क्षेत्र में उतारने के लिए उचित प्रयत्न करना चाहिए। इसलिए सबसे अच्छा उपाय यह होता है कि बच्चे की रुचि को जीवन-क्षेत्र के उच्च आदर्शों की ओर प्रेरित किया जाए। ऐसे आदर्श, जिनसे व्यक्ति का जीवन सफल बनता है तथा समाज में वह प्रतिष्ठा प्राप्त करता है, बच्चे को विशेष आकर्षित करते हैं। इस ओर रुचि उत्पन्न हो जाने पर बच्चे की कल्पना को एक उचित सामग्री मिल जाती है।

दुखद कल्पनाएं भी होती हैं। भीरु तथा परिस्थितियों से पराजित बच्चा प्रायः दुखद कल्पनाएं ही करता है। ऐसी कल्पनाओं से उसका मानसिक स्तर गिर जाता है। वह अपनी दुखद कल्पनाओं से भयभीत होकर, उनके निवारण में ही अपनी शक्ति खोता रहता है। इन दुखद कल्पनाओं का स्थायी प्रभाव पड़ता है। कल्पनाओं की विभीषिका से वह चिन्ताग्रस्त हो जाता है और फिर अनेक मानसिक रोगों का शिकार हो जाता है। कभी-कभी किसी मानसिक आघात के कारण भी बच्चा दुखद कल्पनाओं का अभ्यासी हो जाता है। एक बार कल्पनाओं के इस जाल में फंस जाने पर उससे शीघ्र छुटकारा नहीं मिलता। इसलिए यथासम्भव बच्चे को ऐसी परिस्थितियों से बचाना चाहिए। बच्चे के सामने अपने आर्थिक संकट की व्याख्या करना या ऐसी ही अनेक जटिल समस्याओं को प्रकट करना बड़ा घातक होता है। आप समझते होंगे,

बच्चा इन बातों में क्यों पड़ने जाएगा ! किन्तु ऐसी बात नहीं होती। इन बातों से वह आपकी अपेक्षा अधिक प्रभावित होता है और इनके आधार पर वह अनेक दुखद कल्पनाएं किया करता है। बचपन में इस प्रकार की कल्पनाओं के विकृत हो जाने का परिणाम बुरा होता है। उसकी कल्पना-शक्ति स्वभावतः दुःख की ओर उन्मुख हो जाती है। फल यह होता है कि बड़ा होने पर भी वह सुख एवं उपयोगी कल्पनाओं की अपेक्षा कल्पनाएं ही अधिक करता है। ये कल्पनाएं उसे चिन्ताग्रस्त बना देती हैं। परिणामतः उसका स्वास्थ्य चौपट हो जाता है। ऐसा व्यक्ति थोड़ी-सी आपत्ति पड़ने पर ही अपनी कल्पनाओं से विपत्तियों का अभाव मन के ऊपर लाद लेता है और उसी में डूबकर पागल हो जाता है। ऐसे बहुत-से व्यक्ति पाए जाते हैं जो व्यर्थ में ही भावी दुःख की चिन्ता में रात-रात जाग के बिता देते हैं। बचपन में कल्पना का दुःख की ओर उन्मुख हो जाने का ही यह परिणाम है।

चाहिए यह कि बच्चा वैसी ही कल्पना करने का अभ्यासी बने जिसे वह अपने जीवन-क्षेत्र में उतार सके या जिसे जीवन-क्षेत्र में उतारा जा सकता हो। ऐसा तभी होगा जब यह कल्पना करने के साथ ही उसके अनुसार कार्य करने की आदत भी अपने में डाले। ऐसा हो जाने पर वह न तो केवल कल्पना-क्षेत्र में विचरण करने वाला आधार ही बनेगा और न विकृत तथा दुखद कल्पनाओं के जाल में ही फंसेगा। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि वातावरण तथा परिस्थितियों के कारण किसी-किसी बच्चे की कल्पना-शक्ति मंद हो जाती है। वह स्थिति बड़ी दुःखद होती है। ऐसे बच्चे का मानसिक-विकास एकदम रुक जाता है और उसका जीवन बेकार होता है। समस्त शारीरिक विकास तो होता ही रहता है; किन्तु मानसिक विकास रुक जाने से इन्द्रियां बेकार हो जाती हैं। ऐसा बच्चा बड़ा हो जाने पर भी मानसिक दृष्टि से उसी अवस्था का रहता है जिस अवस्था में उसका मानसिक विकास बन्द हुआ रहता है। यद्यपि यह एक प्रकार का मानसिक रोग है, किन्तु इसका प्रमुख कारण कल्पना-शक्ति का नष्ट हो जाना ही है। यह भी होता है कि कल्पना-शक्ति एकदम न नष्ट होकर क्षीण हो जाती है। यह स्थिति भी बच्चे के जीवन को दुःखपूर्ण ही बनाती है। यद्यपि उसका कोई काम रुकता नहीं और साधारणतः उसमें कोई विकार भी नहीं होता, किन्तु किसी भी समस्या पर वह सोच नहीं पाता और न किसी प्रकार के ज्ञान को ही हृदयंगम कर पाता है। फलतः वह मूर्ख तथा बुद्धू बनकर यंत्रवत् जीवन व्यतीत करता है। इसलिए अभिभावकों को यह भी देखना चाहिए कि बच्चे की कल्पना-शक्ति क्षीण न होने पाये। यदि कल्पना के विचरण के लिए बच्चे की रुचि के अनुरूप कुछ अनुभव तथा जानकारी उसे मिलती रहे तो ऐसा नहीं होता।

कल्पना जीवन में बड़ी उपयोगी है, उसके बिना व्यक्ति का एक क्षण भी नहीं

चलता। यदि वह हमारे मानसिक जीवन से एक क्षण के लिए भी अलग हो जाए तो हम किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाएं। हमें आगे क्या करना है इसका प्रतिकार हमें किस प्रकार करना चाहिए ? हम किस प्रकार अपनी प्रगति कर सकते हैं इत्यादि प्रश्नों का जाल तो हमें सतत घेरे रहता है; उससे हमें कल्पना ही छुटकारा दिलाती है। यदि कल्पना न होती तो मानव-मन प्रश्नों के जाल में घिरकर शान्त हो जाता, उसकी सारी चंचलता काफूर हो जाती। यही कल्पना ही तो मन को चंचलता तथा गति प्रदान करती है। इसलिए बच्चे की कल्पना-शक्ति को विकसित करने, बुद्धिमान तथा स्वस्थ बनाने के लिए अभिभावकों तथा शिक्षकों को सतत सचेष्ट रहना चाहिए।

प्रशंसा द्वारा बच्चों का विकास

मानव-मन को गतिशील बनाने में प्रशंसा का महत्त्वपूर्ण योग है। विश्व की उन्नति के पीछे प्रशंसा ही सूक्ष्म रूप से काम करती है। प्रशंसा या सम्मान का यह रहस्य किसी से छिपा नहीं है। यही कारण है कि सभी क्षेत्र में प्रगति के लिए यह उपयोग में लायी जाती है। स्वागत, अभिनन्दन, पुरस्कार, उपाधि इत्यादि प्रशंसा के ही अंग हैं। मानव के मन में प्रशंसा का बड़ा गहरा सम्बन्ध है। मन को वास्तविक प्रोत्साहन इसी से मिलता है। यदि प्रशंसा न होती तो हम विश्व के प्रत्येक क्षेत्र में जो अपार उन्नति देख रहे हैं वह न होती। विश्व के बड़े-बड़े अन्वेषकों तथा महापुरुषों की जीवनी हमें बताती है कि प्रारम्भ में उन्हें प्रशंसा द्वारा ही प्रोत्साहन मिला है। वस्तुतः प्रशंसा का सम्बन्ध उत्साह से है। बिना उत्साह के कोई भी कार्य नहीं किया जा सकता। कठिन-से-कठिन कार्य भी उत्साह होने पर क्षणमात्र में सम्पन्न हो जाते हैं और सरल से भी सरल कार्य उत्साह के अभाव में दुस्साध्य हो जाते हैं। प्रशंसा उत्साह की जननी है। वस्तुतः मानव के प्रत्येक कार्य के पीछे प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से प्रशंसा वर्तमान रहती है। एक क्षण के लिए भी प्रशंसा का दूर होना व्यक्ति में अनुत्साह उत्पन्न कर देता है, फल यह होता है कि वह व्यक्ति कायर तथा निकम्मा हो जाता है। उत्साह के अभाव में व्यक्ति आलसी होकर अपना जीवन भी कष्टप्रद बना लेता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि व्यक्ति को आगे बढ़ने में प्रशंसा का सहयोग आवश्यक है। यह हुई जीवन के प्रत्येक क्षेत्र की बात। बालजीवन में प्रशंसा का इससे भी अधिक महत्त्व है।

बच्चों में आत्म-स्थापन की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। आत्म-स्थापन की यह प्रवृत्ति बच्चों में प्रशंसा के प्रति एक विचित्र आकर्षण उत्पन्न कर देती है। बच्चा अपने व्यक्तित्व का निर्माण इसी प्रवृत्ति के वशीभूत होकर करता है। आत्म-स्थापन की प्रवृत्ति सभी बच्चों में पाई जाती है, किन्तु उसका वास्तविक विकास तथा उचित दिशा

में उसका झुकाव वातावरण तथा शिक्षा के ऊपर निर्भर रहता है, और चूंकि प्रशंसा का इस प्रवृत्ति से गहरा सम्बन्ध है इसलिए उसका समुचित उपयोग तथा उसके वास्तविक स्वरूप का बच्चे में विकास उत्पन्न होना आवश्यक है। यही नहीं बच्चों में उत्तम गुणों को अंकुरित करने तथा असह्य प्रवृत्तियों को दमन करने में भी प्रशंसा का ही योग है। इसलिए बच्चे के भीतर प्रशंसा के प्रति एक सीमित चाह उत्पन्न करने के लिए अभिभावकों तथा शिक्षकों को विशेष प्रयत्नशील रहना चाहिए। यद्यपि बच्चा मूलतः प्रशंसा-प्रिय होता है, तथापि उसका वास्तविक तथा उत्तम संस्कार करने के लिए सूक्ष्म निर्देश तथा एक प्रकार की प्रेरणा का होना आवश्यक है। अन्यथा हो सकता है, उसका प्रशंसा-प्रिय मूल स्वभाव विकृत होकर अनुचित संस्कार उसमें पैदा कर दे। कहने का तात्पर्य यह है कि बच्चे के भीतर मूलतः वर्तमान प्रशंसा-प्रिय प्रवृत्ति का लाभ उठाकर हम बच्चे में एक उच्च-व्यक्तित्व का निर्माण कर सकते हैं।

बच्चा जैसे ही कुछ जानकारी प्राप्त कर लेता है वैसे ही वह अपने अस्तित्व का भी बोध करने लगता है। अपने अस्तित्व का यह बोध ही आत्म-स्थापन का प्रारम्भिक रूप है। इतनी स्थिति हो जाने पर बच्चा स्वभावतः अपनी प्रशंसा सुनने के लिए लालायित हो उठता है। प्रारम्भ में उसकी लालसा बड़े वेग से आगे बढ़ती है। फल यह होता है कि बच्चा प्रतिक्षण इसके लिए उत्सुक दिखलाई पड़ता है। यही कारण है कि इस अवस्था में बच्चे का प्रत्येक कार्य केवल इसी उद्देश्य से होता है कि उससे उसे कुछ प्रशंसा मिले। वह सतत इसी प्रयत्न में रहता है कि कौन-सा ऐसा कार्य कर रहा है जिससे मेरे माता-पिता आश्चर्यचकित होकर मेरी प्रशंसा करें या मेरी बुद्धिमानी पर प्रसन्न हो जाएं। यह प्रवृत्ति बच्चे में इसी वेग से बढ़ जाती है। यहां अभिभावकों को थोड़ा विवेक से काम लेना चाहिए। बच्चे की इस प्रवृत्ति का लाभ उठाकर उसमें उत्तम गुणों का बीजारोपण करना चाहिए, अच्छी-अच्छी आदतें उसमें डालनी चाहिए। अच्छे कामों के लिए उसकी जी खोलकर प्रशंसा करनी चाहिए और उसे सदा ऐसे ही सत्पथ पर चलने का आदेश भी देना चाहिए। बच्चा ऐसे कामों की ओर नहीं जाना चाहता तो उसकी प्रशंसा में बाधक हों। यहां यह ध्यान रखना चाहिए कि बुरे कामों के लिये उसे भरसक दण्ड देना चाहिए अपितु उसको दण्ड यही दें कि उसकी प्रिय वस्तु प्रशंसा से वंचित कर दें। प्रशंसा का सहज प्रेमी बच्चा स्वयं ही ऐसे कामों से विरत हो जाएगा जिसके द्वारा उसे प्रशंसा नहीं मिलती। इस प्रकार हम उसे कुपथ से विरक्त भी कर सकते हैं।

कुछ और विकसित होने तथा अन्य साथियों के सम्पर्क में आने पर बच्चे की यह एकांगी प्रवृत्ति प्रतियोगी भाव में परिवर्तित हो जाती है। अब वह अपने साथियों में सबसे अच्छा बनने की चाह करने लगता है। इस समय बालक बड़े वेग से तथा

ध्यानपूर्वक अपने में उच्च आदतों तथा उत्तम गुणों का विकास करने लगता है। बच्चे की इस प्रवृत्ति से शिक्षकों को विशेष लाभ उठाना चाहिए। नए-नए ज्ञान को अर्जित करने की ओर बच्चा इस समय विशेष प्रयत्न करता है। प्रायः वह किसी अच्छे साथी से होड़ लगाकर सब चीजों में उससे आगे बढ़ने की कोशिश करता है। यह प्रवृत्ति और आगे बढ़कर आदर्श व्यक्ति बनने तथा उत्तम व्यक्तित्व सम्पादित करने में लग जाती है। प्रायः प्रत्येक विकासशील व्यक्ति में यही क्रम होता है। वातावरण तथा परिस्थितियों की विभिन्नता के कारण यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति का यह विकासक्रम विभिन्न रूपों में सम्पन्न होता दिखाई देता है किन्तु मूलतः प्रशंसा प्राप्त करने की भावना द्वारा ही वह सब विकास प्रेरित होता है, यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है।

उपर्युक्त विकासक्रम तथा उससे व्यक्तित्व-निर्माण का जो रूप बतलाया गया है वह प्रशंसा के स्वस्थ तथा सही विकास में ही सम्भव होता है। यदि यह प्रवृत्ति विकृत हो जाती है तो उलटा परिणाम उपस्थित करती है। एक सीमित मात्रा में जहां तक बच्चे में प्रशंसा प्राप्त करने की भावना काम करती है वहां तक वह उपयोगी होती है किन्तु जब वह मर्यादा का अतिक्रमण कर अधिक हो जाती है तो बच्चे का उन्नति-क्रम बन्द हो जाता है। वैसी दशा में बच्चे का ध्यान उक्त गुणों या प्रशंसित कार्यों की ओर नहीं जाता अपितु वह केवल प्रशंसा का भूखा दिखलाई देता है। ऐसा बच्चा हर एक काम चाहे भला हो या बुरा उसे अपनी प्रशंसा ही समझता है। अति गर्व के कारण वह दुर्गुणों को भी अपनाने लगता है और धीरे-धीरे उसकी प्रशंसा प्राप्त करने की भावना अन्तर्मुखी होकर स्थायी हो जाती है। ऐसी अवस्था में पहुंचकर बच्चा अपने कामों का स्वयं प्रशंसक हो जाता है, उसे दूसरों द्वारा की गई निन्दा की तनिक भी परवाह नहीं रहती। वह अपने आलोचकों को बुरी दृष्टि से देखने लगता है। एक प्रकार से उसकी विवेक-बुद्धि नष्ट हो जाती है। इस प्रकार प्रशंसा प्राप्त करने की भावना का वेग बढ़ जाने के कारण वह प्रगति के स्थान पर अवनति की ओर अग्रसर हो जाता है। फल यह होता है कि उसका भावी जीवन दुःखमय हो जाता है।

किन्हीं बच्चों में प्रशंसा जब प्रतियोगी-भाव में परिवर्तित होती है तो विकृत हो जाती है। जब वह स्वस्थ तथा अपने सीमित रूप में रहती है तो बच्चा अपनी आलोचना स्वयं करने या अपने अच्छे साथी की तुलना में अपनी स्थिति को रखते हुए अपने को उससे अच्छा बनाने का प्रयत्न करता है। वह अपने अन्दर के दुर्गुणों को खोज-खोज कर दूर करता है। किन्तु जब प्रतियोगी-भावना विकृत हो जाती है तो वह ईर्ष्या में परिवर्तित हो जाती है। फलतः बच्चा अपने को न देखकर प्रतियोगी साथी से डाह करने लगता है और हर प्रकार से उसे नीचा दिखाने का प्रयत्न करता है। अपने को सुधारने की भावना के स्थान पर साथी को हानि पहुंचाने की भावना

स्थापित हो जाती है। फल यह होता है कि एक ओर जहां निन्दक तथा आततायी हो जाता है वहीं दूसरी ओर अपने समस्त अर्जित गुणों को भी पीछे छोड़ देता है। चूंकि उसका प्रतियोगी साथी आगे बढ़ता चला जाता है और वह केवल उसे हानि पहुंचाने की भावना में लिप्त रहने के कारण बहुत नीचे गिर जाता है इसलिए उसके अन्दर डाह की भावना बड़ी तेज हो जाती है। फलतः वह चरित्र-भ्रष्ट होकर पतित हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह कि प्रशंसा प्राप्त करने की भावना तथा उससे उत्पन्न प्रतियोगी भाव का सामान्य रूप में रहना ही हितकर होता है। असामान्य स्थिति में पहुंच जाने पर इनसे हानि ही अधिक होती है। प्रशंसा के बीच-बीच से आलोचना का थोड़ा-सा पुट देते रहने पर इस भावना की अधिकता रोकी जा सकती है और प्रतियोगिता की परीक्षाओं को या ऐसे अवसरों को कभी-कभी उपस्थित करने पर प्रतियोगी-भावना की विकृति को बचाया जा सकता है।

शिक्षा-क्षेत्र में प्रशंसा का बड़ा सुन्दर सहयोग मिलता है। सीखने की अनेक बाधाएं इससे सहज ही में दूर हो जाती हैं या उनकी अवधि कम हो जाती है। वैसे सामान्यतः सभी बच्चों को शिक्षित करने में इसका उपयोग बड़ा लाभकारी होता है। यहां एक बात और विचारणीय है। किन्हीं-किन्हीं बच्चों में प्रशंसा प्राप्त करने की भावना दब जाती है। ऐसा अभिभावकों या शिक्षकों की असावधानी से होता है। प्रारम्भ में जब बच्चा किसी कार्य को इसकी प्रेरणा से करता है और उस समय यदि उसे प्रशंसा के बदले फटकार, अपमान सहन करना पड़ता है तो उसकी वह भावना दब जाती है या अन्य किन्हीं कारणों से जिन बच्चों को बचपन में प्रशंसा या उत्साह नहीं मिलता उनकी भी यह भावना दब जाती है। कभी-कभी साथियों द्वारा अनुचित रूप से अपमानित होने पर भी ऐसा हो जाता है। बच्चे के लिए यह स्थिति बड़ी हानिप्रद होती है। प्रशंसा प्राप्त करने की भावना का दब जाना उत्साह भंग हो जाना है। ऐसी स्थिति में बच्चे का मानसिक विकास मन्द पड़ जाता है। यही नहीं उसके अव्यक्त मन पर एक ग्रन्थि पड़ जाती है। जो आगे चलकर बच्चे में अनेक मानसिक रोग उत्पन्न कर देती है। ऐसा बच्चा बड़ा होने पर अनुचित रूप से प्रशंसा प्राप्त करने की भावना से अभिभूत हो जाता है। फल यह होता है कि प्रत्यक्ष रूप में वह ऐसे कार्यों को करता है जो समाज की दृष्टि से हास्यास्पद होते हैं। लोगों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने तथा अपने में चमत्कारिता उत्पन्न करने की दृष्टि से वह ऐसी हरकतें करता है या ऐसे कार्यों को करता है जो समाज-विरोधी या लोगों की दृष्टि में अति तुच्छ होते हैं। बहुत-से लोग ऐसे हैं जो अपने शरीर को कृत्रिम रूप से इस प्रकार बनाकर चलते हैं जिसे देखकर हंसी आती है। वह अपने बोलने के ढंग में भी इसी प्रकार की कृत्रिमता रखता है। यह एक मानसिक रोग है। प्रशंसा से वंचित

हो जाने के कारण अव्यक्त मन में जो ग्रन्थि पड़ जाती है उसी का यह फल है।

प्रशंसा के स्वरूप के सम्बन्ध में स्पष्टीकरण कर देना नितान्त आवश्यक है। बच्चे की प्रशंसा का प्रदर्शन उसका वास्तविक रूप नहीं है। वस्तुतः किसी प्रशंसा से बच्चे को वास्तविक प्रेरणा नहीं मिलती, इससे बच्चा तो बिगड़ सकता है। वस्तुतः हार्दिक प्रशंसा का ही स्वस्थ प्रभाव पड़ता है। उसके कार्यों के प्रति आपकी दिलचस्पी, उसके कार्यों को ध्यान और रुचिपूर्वक निरीक्षण करने की भावना से मूक एवं हार्दिक सहानुभूति का भाव प्रकट होता है। ऐसे ही भावों से बच्चा प्रभावित होता है। हमारी हार्दिक भावनाओं को बच्चा नहीं समझ पाएगा, ऐसा सोचना नितान्त भूल है। वह आपकी भावनाओं की तह तक तुरन्त पहुंच जाता है और वहां से सीधे प्रेरणा लेता है। जब तब बच्चे में स्वयं विवेक का उदय नहीं होता तथा जब तक वह स्वयं अपने व्यक्तित्व को उत्तम बनाने के स्वस्थ विचारों से प्रेरित नहीं होता तब तक वह आपकी इन्हीं भावनाओं से प्रेरणा लेता रहता है। आपकी रुचि को ही आधार मानकर वह अपना निर्माण करता है। कहने का तात्पर्य यह है कि अभिभावकों एवं शिक्षकों के मन में बच्चे के प्रति निन्दात्मक या प्रशंसात्मक जो भी भाव रहते हैं उनसे वह पूर्णतः भिज्ञ रहता है और उसके निर्माण के वे भाव ही मुख्य आधार होते हैं। इसलिए बच्चों के लिए ऐसा आधार मिलना चाहिए जिससे वे प्रेरणा प्राप्त करें। संयोगात् जिन बच्चों को ऐसा आधार नहीं मिलता उनकी आत्म-स्थापना की प्रवृत्ति नष्ट हो जाती है और उसके बदले आत्म-हीनता तथा दैन्य की भावना उनमें अड्डा जमा लेती है। ऐसा बच्चा लोगों के समक्ष उपस्थित होने में भी हिचकता है। उसकी समस्त प्रवृत्तियां अन्तर्मुखी हो जाती हैं। फल यह होता है कि अनेक समाज-विरोधी कार्यों को वह छिपकर करने लगता है। चोरी करने की आदत और झूठ बोलने की आदत ऐसी ही स्थिति में विशेषकर पड़ती है। यही नहीं उसमें और भी भयंकर दुर्गुण आ जाते हैं जो आगे चलकर उसे पतित बना देते हैं। इसलिए आवश्यक यह है कि किसी भी बच्चे के प्रति हम बुरी भावना न बनायें। कुछ-न-कुछ गुण तो उसमें रहता ही है। उन्हीं को अपने हृदय में स्थान देकर उसे विकसित करने के लिए प्रयत्नशील हों, ऐसा हो जाने पर आगे चलकर उसमें और भी अच्छे गुणों का विकास हो जाता है। किसी बच्चे के प्रति हृदय में कुत्सित भावना बना लेना वस्तुतः बच्चे को नष्ट कर देना है। हरएक बच्चे को कहीं-न-कहीं से हार्दिक प्रशंसा तथा सहानुभूति मिलनीं चाहिए। बिना इसके कोई भी बच्चा विकसित नहीं हो सकता।

बच्चे की रुचि और ध्यान का विकास

पहले ध्यान को एक मानसिक शक्ति माना जाता था। परन्तु प्रयोगात्मक मनोविज्ञान ने अन्वेषण के फलस्वरूप अब यह सिद्ध कर दिया है कि यह एक मानसिक क्रिया है। बिना ध्यान के हम कोई कार्य नहीं कर सकते। हम चाहे जो कार्य करें उसमें हमें ध्यान देना ही होगा। ध्यान का सम्बन्ध चेतना से है, किसी वस्तु पर ध्यान देना उस पर अपनी चेतना केन्द्रित करना है। जागृतावस्था में हमारा ध्यान किसी-न-किसी वस्तु पर केन्द्रित रहता है।

साधारणतः हमारी यह धारणा है कि हम एक बार कई वस्तुओं को देख लेते हैं। उदाहरणार्थ किसी कमरे के निरीक्षण से जान पड़ता है कि हम एक साथ कई वस्तुओं को देख रहे हैं। परन्तु बात ऐसी नहीं है। हम एक बार एक ही वस्तु पर अपनी चेतना केन्द्रित कर सकते हैं। हां, यह सम्भव हो सकता है कि एक क्षण में हम बारी-बारी से अपनी चेतना कई वस्तुओं पर केन्द्रित कर लें। इस प्रकार अपनी चेतना केन्द्रित कर सकने में वैयक्तिक अन्तर पाया जाता है। यदि हम एक बार एक ही वस्तु को देख सकते हैं, तो एक क्षण में बारी-बारी से कई वस्तुएं हम कैसे देख पाते हैं, और हमें यह कैसे मालूम होता है कि हम एक बार कई वस्तुएं देख रहे हैं ? ऊपर हम कह चुके हैं कि चेतना के केन्द्रित होने से हम किसी वस्तु पर ध्यान केन्द्रित करते हैं। हमारी ध्यान-चेतना के दो भाग होते हैं केन्द्रीय और तटीय। जिस वस्तु पर हमारा ध्यान जाता है वह केन्द्रीय चेतना का अंग बन जाती है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसी वस्तुएं होती हैं जो तटीय चेतना के अन्तर्गत पड़ी रहती हैं और मस्तिष्क जब चाहे तब उन्हें केन्द्रित चेतना का अंग बनाने में समर्थ होता है। इसीलिए तो हमारे ध्यान को एक वस्तु पर जाने में कुछ देर लगते नहीं जान पड़ता। यह ध्यान में रखने की बात है कि केन्द्रीय और तटीय चेतना को विभाजित करने के लिए कोई निश्चित रेखा नहीं। जो वस्तु तटीय चेतना के अन्तर्गत है वही केन्द्रीय चेतना से तुरन्त ही आ सकती है और केन्द्रीय चेतना वाली तटीय में आ सकती है। अतः हम कह सकते हैं कि ध्यान का विषय बदला करता है। हमारा यह अनुभव भी है कि हम क्षण-क्षण पर अपना ध्यान एक वस्तु से दूसरी वस्तु पर हटाया करते

हैं। ध्यान का विषय वही माना जाएगा जिस पर हमारी चेतना केन्द्रित होगी। ध्यान को समझने के लिए हमें उसके और चेतना के भेद को समझ लेना चाहिए।

ध्यान और चेतना

ऊपर हम कह चुके हैं कि चेतना के केन्द्रीय होने से हमारा ध्यान किसी वस्तु पर जाता है, परन्तु इससे यह समझना भूल होगी कि ध्यान और चेतना में भेद नहीं। जिस वस्तु पर हमारा ध्यान जाता है उसकी चेतना हमें अवश्य होती है; परन्तु चेतनता के अन्तर्गत आयी हुई सभी वस्तुओं पर हमारा ध्यान जाना आवश्यक नहीं। चेतना का क्षेत्र बहुत विस्तृत हो सकता है और ध्यान उसका केवल एक अंग हो सकता है। कमरे में रखी हुई विभिन्न वस्तुएं जैसे चित्र, कलम, कुर्सी, मेज, पंखा, चारपाई तथा दर्पण आदि हमारी चेतनता में आ सकती हैं—परन्तु ध्यान हमारा केवल दर्पण पर ही केन्द्रित हो सकता है; क्योंकि हम उसमें अपना शरीर देख सकते हैं। इस प्रकार चेतनता के दो क्षेत्रों की बात कही जा सकती है—ध्यान वाला और उपेक्षा वाला। ध्यान वाला क्षेत्र केन्द्रीय चेतना में होता है और उपेक्षा वाला तटीय में। तटीय चेतनता को कभी-कभी उप-चेतनता की भी संज्ञा दी जाती है। उप-चेतना में रहने वाली वस्तुओं पर हमारा ध्यान नहीं जाता, तो उसकी हमें चेतना कैसे रहती है। उप-चेतना की वस्तु से हमारी चेतना के पूरे वातावरण की ओर संकेत मिलता है। उप-चेतना में रहने वाली वस्तुओं के हट जाने पर हमें उसकी चेतना हो जाती है। जैसे, घड़ी की टिक-टिक की हमें चेतना नहीं रहती, परन्तु टिक-टिक के बन्द हो जाने पर हमें तुरन्त चेतना हो जाती है कि घड़ी का चलना बन्द हो गया।

ध्यान की दशाएं

जिन बातों के कारण हम अपना ध्यान किसी वस्तु पर केन्द्रित कर पाते हैं; उसे ध्यान की दशाएं कहते हैं। इन बातों में कुछ का सम्बन्ध वातावरण से होता है, जैसे उद्दीपक की तीव्रता तथा काल और वस्तु की गतिशीलता। इसके अतिरिक्त कुछ का सम्बन्ध व्यक्तिगत बातों से होता है; जैसे व्यक्ति की शिक्षा, रुचि, मन, स्थिति, वास्तविक क्रियाशीलता। ध्यान की दशाओं के इस वर्गीकरण का तात्पर्य यह नहीं कि एक दशा दूसरे से स्वतंत्र होती है। वस्तुतः ये सभी मिलकर हमारे ध्यान को कभी-कभी किसी वस्तु की ओर खींचती हैं। ध्यान के केन्द्रित होने में तात्कालिक क्रियाशीलता, प्रयोजन और मनःस्थिति का सदा प्रभाव पड़ा करता है, यद्यपि वातावरण-सम्बन्धी बातें भी अपनी उग्रता के कारण हमारा ध्यान अपनी ओर अनायास खींच लेती हैं। नीचे हम वातावरण तथा व्यक्तिगत सम्बन्धी ध्यान की दशाओं को अलग-अलग समझने की चेष्टा करेंगे।

वातावरण-सम्बन्धी ध्यान की दशाएं

आकार—आकार का हमारे ध्यान पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। प्रायः यह सभी का अनुभव है कि बौना या बहुत लम्बा आदमी हमारा ध्यान आकर्षित कर लेता है। समाचार-पत्र में छपे हुए सबसे बड़े चित्र की ओर हमारा ध्यान तुरन्त चला जाता है।

गति—गतिशील वस्तु की ओर हमारा ध्यान शीघ्रतर चला जाता है। दुकान में गतिशील खिलौना अन्य खिलौनों की अपेक्षा हमारा ध्यान शीघ्रतर आकर्षित कर लेता है। हम अपने मित्र का ध्यान खींचने के लिए उसकी ओर अपना हाथ या रूमाल हिलाते हैं—केवल हाथ अथवा रूमाल का दिखलाना ध्यान को आकर्षित करने के लिए पर्याप्त नहीं होता। इसीलिए तो रेल के ड्राइवर को संकेत देते समय गार्ड झण्डी को केवल दिखलाता ही नहीं, वरन् उसे हिलाता भी रहता है।

अवधि—घड़ी में एलार्म लगाने के लिए हम कुंजी को अच्छी प्रकार कसते हैं, जिससे उपयुक्त समय पर वह काफी देर तक बजती रहे। घूमकर सौदा बेचने वाले अपनी आवाज लम्बी करके निकालते हैं, जिससे लोगों का ध्यान वे अवश्य ही आकर्षित कर लें। बात यह है कि उद्दीपक जितना ही दीर्घकालीन होता है उतनी ही हमारी स्नायुमण्डल की अवरोधक-शक्ति कम हो जाती है। स्नायुमण्डल के अवरोध-शक्ति की कमी के कारण व्यक्ति का ध्यान किसी वस्तु की ओर शीघ्र ही आकर्षित न हो सका तो किसी दूसरे आसन में हो जाने की अधिक सम्भावना रहती है।

आवृत्ति—उद्दीपक की आवृत्ति भी हमारे ध्यान को आकर्षित कर लेती है। इसीलिए तो शिक्षक या वक्ता जिस बात की ओर अपने श्रोताओं का ध्यान आकर्षित करना चाहता है उसे वह कई बार दोहराता है।

तीव्रता—तीव्रता हमारे ध्यान को शीघ्र आकर्षित कर लेती है। इसीलिए तो दूसरों का ध्यान आकर्षित करने के लिए लोग कभी गाढ़े रंग के कपड़े पहनते हैं। गहरे अक्षरों में लिखा हुआ विज्ञापन अथवा सूचना हमारे ध्यान को शीघ्र आकर्षित कर लेती है। दीपक की अपेक्षा बिजली का तीव्र प्रकाश हमारे ध्यान को शीघ्र आकर्षित कर लेता है।

ध्यान की व्यक्तिगत दशाएं

व्यक्ति विचित्र सामाजिक बातों से प्रभावित होता ही है। जो बातें उसका निकटवर्ती समाज करता है उसकी ओर उसका ध्यान स्वभावतः आकर्षित हो जाता है और उसे वह करना चाहता है।

रुचि—रुचि और ध्यान में घनिष्ठ सम्बन्ध है जिस वस्तु में हमारी रुचि होती है उस ओर हमारा ध्यान आकर्षित हो जाता है। बाजार अथवा समाचार-पत्र की वही

वस्तुएं हमारा ध्यान आकर्षित करती हैं जिनमें हमारी रुचि होती है।

शिक्षा और अनुभव—अपनी-अपनी शिक्षा और अनुभव के अनुसार लोग विभिन्न वस्तुओं की ओर आकर्षित होते हैं। इसलिए समान वातावरण में विभिन्न लोगों की प्रतिक्रियायें भिन्न-भिन्न हो सकती हैं। किसी बाग में आने पर 'वनस्पति विज्ञानवेत्ता', 'माली' तथा 'सुगन्ध-रसिक' का ध्यान विभिन्न बातों पर जाएगा। ऐसा उनकी शिक्षा तथा अनुभव के कारण ही होता है।

रुचि

ऊपर हम कह चुके हैं कि ध्यान और रुचि में घनिष्ठ सम्बन्ध है। वस्तुतः ध्यान की व्यक्तिगत दशाओं में रुचि का प्रभाव बड़ा व्यापक जान पड़ता है। विंघम के अनुसार रुचि वह प्रवृत्ति है जिससे हम किसी अनुभव में दत्तचित्त होकर उसे जारी रखना चाहते हैं। विंघम की इस उक्ति में ध्यान और रुचि की परस्पर-निर्भरता एकदम स्पष्ट है। मैग्डूगल कहता है कि "रुचि छिपा हुआ ध्यान है और ध्यान रुचि का क्रियात्मक रूप है।"

रुचियों के भेद

रुचियों के दो भेद किए जा सकते हैं; जन्मजात और अर्जित।

(1) जन्मजात—जन्मजात रुचियां मूल प्रवृत्यात्मक होती हैं, जैसे खाने-पीने, दौड़ने-भागने, लड़ने और चिल्लाने की रुचियां। मूल प्रवृत्तियों और सामान्य प्रवृत्तियों की क्रियाशीलता से हमें कुछ विशिष्ट वस्तुएं रुचिकर लगती हैं। मां की रुचि अपने पुत्र में है। बिल्ली की रुचि चूहे में होने से वह बिल के पास चुपके-से छिप जाती है। सर्प की रुचि मेढकों में होती है। इसीलिए कभी उन्हें निगलने के लिए वह कुएं अथवा पानी के गड्ढों में चला जाता है। ऐसी रुचियों को जन्मजात अथवा स्वाभाविक कहा जा सकता है।

(2) अर्जित—शिक्षा अथवा अनुभव के फलस्वरूप जो रुचियां व्यक्ति में उत्पन्न होती हैं वे अर्जित कही जाती हैं। अर्जित रुचियों की भी नींव जन्मजात रुचियों में ही होती है। उदाहरणार्थ बालकों की संगीत तथा पढ़ने-लिखने में रुचि उसके आत्म-प्रकाशन-सम्बन्धी जन्मजात रुचि अथवा मूल प्रवृत्ति के कारण हो सकती है।

रुचि के न होने से व्यक्ति किसी वस्तु की ओर अवहेलना की दृष्टि से देखता है। पेट भरे रहने पर बालक की रुचि मिठाई की ओर नहीं रहती। रुचि के न रहने पर बालक अपना ध्यान कक्षा-शिक्षण में नहीं लगाता। अतः प्रत्येक पाठ का सम्बन्ध बालक की रुचियों से होना आवश्यक है, अन्यथा शिक्षक का श्रम व्यर्थ जाएगा।

ध्यान और रुचि के इस संक्षिप्त मनोवैज्ञानिक विवेचन के बाद नीचे हम इन्हें बालकों के विकास के सम्बन्ध में अति संक्षेप में समझने की चेष्टा करेंगे, क्योंकि यहां हमारा क्षेत्र बहुत ही सीमित है।

बालक में ध्यान देने की शक्ति का विकास

अभी तक यह निश्चय नहीं किया जा सका है कि शिशु किस समय से किसी वस्तु की ओर अपना ध्यान केन्द्रित करने में समर्थ होता है। प्रायः यह देखा जाता है कि एक महीने की उम्र के पहले ही शिशु दीपक की ओर एकटक देखने का प्रयास करता है। दो महीने का शिशु तो दीपक के हटा लेने पर रोते हुए भी देखा जाता है, और फिर दीपक के आ जाने पर चुप हो जाता है। कमरे में किसी के आने पर चार-पांच महीने का शिशु उसकी ओर कुछ आकर्षित होते देखा जाता है। एक महीने का शिशु किसी वस्तु की ओर बहुत देर तक नहीं देख सकता। उसकी आंखें बहुधा इधर-उधर नाचा करती हैं। परन्तु चार महीने का शिशु कुछ देर तक किसी वस्तु को देखते रहने में सफल होता है। अब वह दूसरों की आवाज से आकर्षित होता है और पुचकारने का उत्तर मुस्कराकर देता है। इस प्रकार ध्यान देने की उसकी शक्ति उत्तरोत्तर बढ़ती रहती है। इस शक्ति के बढ़ने का उसकी रुचियों के विकास से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। जब शिशु की रुचि खिलौने में हो जाती है तो उनकी ओर वह अपना ध्यान केन्द्रित करने लगता है।

वान ऐल्स्टिन ने अपने अन्वेषण में देखा कि दो वर्ष के शिशु केवल 7 ही मिनट किसी वस्तु की ओर स्थिर ध्यान से देख सकते थे, परन्तु चार-पांच वर्ष के शिशु 14-15 मिनट तक अपने ध्यान को केन्द्रित कर सके। ध्यान की स्थिरता और बालक के व्यक्तित्व-विकास में घनिष्ठ सम्बन्ध है। मन्द बुद्धि का बालक अपने ध्यान को कम केन्द्रित कर पाता है, परन्तु ध्यान स्थिरता के आधार पर किसी बालक को मन्द बुद्धि का मान लेने के पहले यह निर्णय कर लेना अत्यन्त आवश्यक है कि किसी वस्तु-विशेष में बालक की रुचि है या नहीं। कहना न होगा कि रुचि के अभाव में वह उस वस्तु की ओर अपना ध्यान न दे सकेगा। वस्तुतः मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह कहना गलत है कि बालक ध्यान नहीं दे रहा है। वह (या कोई भी व्यक्ति) सदा किसी-न-किसी वस्तु पर ध्यान दिया करता है। हां, यह हो सकता है कि इस वस्तु पर ध्यान न देकर बालक कभी हमारी अपेक्षा के विपरीत किसी दूसरी वस्तु पर ध्यान दे सकता है क्योंकि अपनी रुचि के अनुसार अपने ध्यान का केन्द्र वह चुन ही लेता है।

बालक के ध्यान का केन्द्र उसके स्वभाव, स्वास्थ्य और उद्देश्य पर निर्भर करता

है। साधारणतः जिस खिलौने से बालक खेलता रहता है बीमारी की दशा में उसे वह झनककर फेंक दिया करता है। स्ट्रैंक के अनुसार पांच वर्ष का बालक मिट्टी तथा लकड़ी के खिलौने, गुड़िया तथा रंगीन खड़िया से अधिक आकर्षित होता है। धीरे-धीरे उसकी रुचियां दूसरी वस्तुओं में होने लगती हैं। तब वह इन वस्तुओं की ओर अधिक आकर्षित नहीं होता। किसी वस्तु की ओर बालक का ध्यान हठात् लगाना अमनोवैज्ञानिक है; क्योंकि उसका ध्यान हठात् लगाया ही नहीं जा सकता। अतः बालक के ध्यान न देने पर उसके कारण को समझकर उसे दूर करने की चेष्टा करनी चाहिए।

बालक की रुचियां

ऊपर हम संकेत कर चुके हैं कि व्यक्तित्व-विकास में रुचियों का विशेष महत्त्व होता है। जिसके पास जितनी रुचियां होती हैं उसका व्यक्तित्व उतना ही व्यापक होता है। अतः बालक में अनेक रुचियों का विकास करना आवश्यक है। अनेक रुचियों में रहने से अक्सर वह अपना पथ निर्धारित करने में सफल हो सकेगा, अन्यथा उसमें कूपमण्डूकता आ जाएगी। कई रुचियों के रखने से मानसिक उदारता बढ़ती है। इससे व्यक्ति को समय-समय पर मानसिक विश्राम भी मिलता रहता है, क्योंकि एक रुचि वाले विषय के साथ काम करने से व्यक्ति जब तक थक जाता है तो दूसरी रुचि वाले विषय में लगने से उसकी मानसिक थकावट कुछ दूर होती जान पड़ती है।

सर्वप्रथम अभिभावकों को बालकों की रुचियों को समझने की चेष्टा करनी चाहिए। बालक की किसी इच्छामात्र से उसकी रुचि का अनुमान लगा लेना ठीक न होगा। रुचि का सम्बन्ध किसी विषय के सम्बन्ध में व्यक्तिगत क्रियाशीलता से होता है। यहां पर यह ध्यान रखना है कि रुचि और योग्यता में विशेष सम्बन्ध नहीं। रुचि के रखते हुए भी अनुकूल वातावरण के अभाव में बालक में तत्सम्बन्धी योग्यता का अभाव हो सकता है। संगीत में रुचि रखते हुए भी यदि अच्छा गुरु न पा सका तो उसमें संगीत-सम्बन्धी योग्यता न आएगी। इस मनोवैज्ञानिक सत्य के कारण यह आवश्यक है कि बालक की रुचि का ठीक-ठीक पता लगाया जाए और उसके हेतु समुचित उपकरणों का आयोजन किया जाए।

उम्र के बढ़ने के साथ बालकों की रुचियों में परिवर्तन आता रहता है। अतः जो बातें शैशव में अच्छी लगती हैं वे बचपन में अरुचिकर लग सकती हैं और बचपन की बातें किशोर के लिये व्यर्थ हो सकती हैं। नीचे हम देखेंगे कि बालकों की रुचियों में उत्तरोत्तर विकास कैसे होता है।

खेल-सम्बन्धी रुचियां

बालकों के खेलों के अध्ययन से उनके वर्तमान स्वभाव, योग्यता और आवश्यकता का बहुत हद तक पता लगाया जा सकता है। शैशव में बालक अपनी क्रियाशीलता के क्रम में एकदम स्वतंत्र रहना चाहता है। इस समय उसकी रुचि केवल स्वतंत्र रहने में ही जान पड़ती है। इधर-उधर आना-जाना, वस्तुओं को उलटना, पटकना तथा फोड़ना उसके मनोरंजन और खेल का प्रधान अंग जान पड़ता है। एक वर्ष का शिशु अपने दूध-भरे प्याले को नष्ट करते देखा जाता है। घर में रखी हुई वस्तुओं को अस्त-व्यस्त करने में वह मग्न दिखलाई पड़ता है। डेढ़-दो वर्ष का शिशु धूल में खेलना पसन्द करता है। गेंद भी उसके खेल का एक साधन है। तीन-चार वर्ष का बालक छड़ी को घोड़ा मानकर उसकी सवारी करता है और खिलौने को गाड़ी मानकर उसका ड्राइवर बनने का स्वांग करता है। अभी तक उसके खेल प्रायः व्यक्तिगत ही होते हैं। छः-सात वर्ष की उम्र में उसके खेल का स्वरूप सामूहिक होने लगता है। समूह में रहना तो उसे दूसरे साल की उम्र से ही अच्छा लगता है, परंतु दो-तीन वर्ष के बच्चे समूह में रहते हुए भी अपने-अपने वैयक्तिक खेल में ही मस्त रहते हैं।

छः-सात वर्ष पर बालक की रुचि जब सामूहिक खेलों में होने लगती है तो साथी न मिलने पर उसके सामाजिक विकास को बड़ा धक्का लगता है, तब उसके भाषा विकास में भी विघ्न पड़ता है। सात वर्ष की अवस्था से बालक में विधायकता की मूल प्रवृत्ति विशेषतः जागृत होने लगती है। अब उसके खेल में विधायकता का पुट देखने को मिलता है। धूल व मिट्टी के घर, फूलों की माला तथा कागज की नाव आदि बनाने का प्रयास करना उसके खेल के अंग हुआ करते हैं। इसी समय लड़कियां गुड़ियों के साथ खेलना विशेष पसन्द करती हैं। दस वर्ष की अवस्था से बालकों और बालिकाओं के खेलों में प्रतियोगिता का भाव मिलने लगता है। अब वे अपने खेलों में कुछ पूर्व-निर्धारित नियमों का पालन करना आवश्यक समझने लगते हैं। गुल्ली-डण्डा, हॉकी, फुटबाल, बैडमिण्टन, तैरना, दौड़ना तथा पेड़ पर चढ़ना आदि उनके खेलों के प्रधान अंग हुआ करते हैं। इन खेलों में वे एक-दूसरे से अपनी श्रेष्ठता दिखलाना चाहते हैं। दस-बारह वर्ष की उम्र से लड़कों और लड़कियों में अपने खेल के क्रम में तत्सम्बन्धी कला की सीखने की प्रवृत्ति आ जाती है। दस वर्ष की अवस्था से लड़कियों के खेल में लड़कों के खेल की अपेक्षा विशेष भिन्नता दिखलायी पड़ती है। घरेलू कार्यों में उनकी रुचि बढ़ने लगती है। सीना, बुनना, नाचना और गाना सीखना उनके खेल के अंग होने लगते हैं—यद्यपि थोड़े ही दिन में ये सब खेल न होकर उनके लिए कार्य हो जाते हैं।

सामाजिक रुचियां

बालकों की सामाजिक रुचियों का विकास यकायक नहीं हो जाता। वस्तुतः इसका प्रारम्भ अन्य रुचियों के साथ ही होने लगता है। प्रायः यह देखा जाता है कि एक-डेढ़ साल का शिशु अकेले छोड़ देने पर रोने लगता है। पांच-छः वर्ष का शिशु किसी मेले-समारोह अथवा उत्सव में जाने के लिए हठ करते देखा जाता है। आठ-दस वर्ष का शिशु बाहर जाकर वहां की बातें समझना चाहता है। पूजा-स्थानों का वह निरीक्षण करना चाहता है। त्यौहारों के अवसर पर अपने घर सजाने में उसे बड़ा आनन्द मिलता है। बालकों की सामाजिक रुचियों के विकास में वातावरण का विशेष हाथ रहता है। वातावरण जितना ही कौतूहलपूर्ण होता है, सामाजिक रुचियों को विकास का उतना ही अच्छा अवसर होता है।

पढ़ने की रुचि

पढ़ने की रुचि पर बालकों का विकास बहुत हद तक निर्भर करता है। समुचित वातावरण के अभाव में कुछ बालकों में पढ़ने की रुचि का विकास नहीं हो पाता। फलतः ऐसे बालकों का व्यक्तित्व-विकास अधूरा रह जाता है। दस वर्ष के पहले-पहले बच्चों की कोई विशेष रुचि नहीं रहती। अब तक उनकी रुचि प्रधानतः खेलों में होती है। परन्तु दस-ग्यारह वर्ष की अवस्था पर उचित वातावरण के मिलने पर उनकी पढ़ने की रुचियों का विकास होने लगता है। पढ़ने की रुचि के आधार पर उनके मानसिक विकास के स्तर का भी अनुमान लगाया जा सकता है। छः-सात वर्ष का बालक जानवरों-सम्बन्धी मनोरंजक कहानियां पढ़ना और सुनना चाहता है। तुकान्त गाने पढ़ने और गाने में उसे बड़ा आनन्द आता है। सात-आठ वर्ष के बालक में प्रकृति-सम्बन्धी बातें पढ़ने की रुचि आने लगती है। नदी, पहाड़, जंगल, समुद्र, सूर्य तथा चन्द्रमा आदि के सम्बन्ध में वह जानना चाहता है और तत्सम्बन्धी मनोरंजक कहानियां आदि उसे मिल गईं तो उन्हें वह बड़े चाव से पढ़ता है। नौ वर्ष के हो जाने पर उसे प्रायः कल्पनात्मक कहानियां अच्छी लगती हैं। परियों और शेखचिल्ली की कहानियां इस समय उसे बड़ी भाती हैं। ग्यारह वर्ष की अवस्था से उसमें जिज्ञासा-प्रवृत्ति विशेष क्रियाशील हो जाती है; अतः इस समय वह आविष्कार तथा अन्य रहस्यपूर्ण बातें सुनना और पढ़ना चाहता है। इसी समय उसमें प्रतियोगिता-भावना भी खूब होती है। अतः साहसपूर्ण कहानियां भी उसे बड़ी रुचिकर लगती हैं। लड़कियों का सामाजिक विकास लड़कों से कुछ भिन्न होता है। अतः उनकी पढ़ने की रुचियां भी भिन्न होती हैं। दस-बारह वर्ष की लड़कियां कौटुम्बिक बातों वाली कहानियां पढ़ना अधिक पसन्द करती हैं। जीवन-चरित्र और

ऐतिहासिक कहानियां भी उन्हें अच्छी लगती हैं। किशोरावस्था के आते-आते लड़के और लड़कियों की रुचियों में बड़ा अन्तर आ जाता है, क्योंकि इस समय उनके जीवन की विभिन्न समस्याएं अपनी वास्तविक रुचि की ओर संकेत करने लगती हैं। अतः इन विभिन्न समस्याओं से सम्बन्धित ही उनकी पढ़ने की रुचियां होती हैं।

व्यावसायिक रुचि

शैशव अथवा बचपन में बालक के व्यावसायिक रुचि का पता लगाना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि इस समय उसे जीवन की विभिन्न समस्याओं का विशेष ज्ञान नहीं रहता। परन्तु किशोर अर्थात् बारहवें या तेरहवें वर्ष के प्रारम्भ में वह अपनी व्यावसायिक रुचि का कुछ-कुछ संकेत देने लगता है। व्यावसायिक रुचि के विकास में माता-पिता के वातावरण का विशेष प्रभाव पड़ते दिखलाई पड़ता है। इसलिए तो प्रायः यह देखा जाता है कि बढ़ई का लड़का लकड़ी के कार्य की ओर, सोनार का लड़का सोनारी की ओर अपनी प्रवृत्ति दिखलाता है। परन्तु माता-पिता के व्यवसाय को ही बालक को चुनने के लिए अभिप्रेरित नहीं करना चाहिए। उसे इसके लिए पूरी स्वतन्त्रता देना अत्यन्त आवश्यक है। माता-पिता द्वारा इस सम्बन्ध में किसी प्रकार का दबाव हानिकारक होगा।

अपराध और उपचार

बच्चे बहुधा बड़े प्यारे लगते हैं और प्रायः यह कहा जाता है कि वे बड़े ही अच्छे हैं और उनका जीवन बड़ा ही सुखी है। परन्तु सभी बच्चों के विषय में यह बात लागू नहीं होती। कुछ बच्चे ऐसे होते हैं जो वातावरण में अपने को व्यवस्थित नहीं कर पाते। ऐसे बच्चे प्रायः ऐसे व्यवहार दिखलाते हैं जिन्हें सामान्य नहीं कहा जा सकता। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि उनमें व्यक्तित्व-सम्बन्धी कुछ कठिनाइयां आ गई हैं। ऐसे बच्चे संवेगात्मक दृष्टि से अस्वस्थ होते हैं और उन्हें 'समस्या बालकों' (Problem children) की संज्ञा दी जा सकती है। यों तो कठिनाइयां और समस्याएं सभी व्यक्तियों के अनुभव की वस्तु होती हैं; चाहे वे बच्चे, प्रौढ़ या बूढ़े हों परन्तु संवेगात्मक दृष्टि से स्वस्थ व्यक्ति अपनी समस्याओं का हल समाज द्वारा स्वीकृत साधनों के सहारे करना चाहता है। इसके विपरीत संवेगात्मक दृष्टि से अस्वस्थ व्यक्ति अपने आवेशवश किसी समय कुछ भी कर सकता है। आगे हम यह समझने की चेष्टा करेंगे कि संवेगात्मक दृष्टि से अस्वस्थ बालक के असामान्य व्यवहार के कारण होते हैं और उनके दोषों को दूर करने के लिए किन-किन उपायों का अवलम्बन किया जा सकता है।

पुराने जमाने में अपराधी बालक के असामान्य व्यवहार का कारण किसी भूत-प्रेत अथवा शैतान को समझा जाता था। ऐसे बालकों से लोग डरा करते थे और कभी-कभी उनकी पूजा भी किया करते थे। इसके विपरीत उन्हें कभी-कभी मार डालने की भी चेष्टा की जाती थी। परन्तु अपराधी बालकों के प्रति आजकल ऐसा व्यवहार नहीं किया जाता। मनोवैज्ञानिक खोजों के फलस्वरूप अब उनके व्यवहार के कारण को समझने की उपयोगिता मान ली गयी है। पाश्चात्य देशों में तो अपराधी बालकों के उपकार के लिए बड़ी-बड़ी संस्थाएं संचालित की जा रही हैं और उनसे अपराधी बालकों का बड़ा ही उपकार होता है।

बालकों का असामान्य व्यवहार

कुछ लोग असामान्य व्यवहार के कारण को शारीरिक मान बैठते हैं। कुछ बालकों के सम्बन्ध में यह ठीक भी हो सकता है; परन्तु कुछ के सम्बन्ध में संवेगात्मक कुव्यवस्थापन ही प्रधान कारण हो सकता है। शारीरिक कारण के

अन्तर्गत बुरा स्वास्थ्य शरीर की कोई विशिष्ट बनावट तथा ग्रन्थियों सम्बन्धी कुछ गड़बड़ी आदि बातें आ सकती हैं। संवेगात्मक कुव्यवस्थापन का तात्पर्य बालक के प्रति दूसरों का दुर्व्यवहार और असहानुभूति से समझा जा सकता है। आधुनिक मनोवैज्ञानिकों के अनुसार बालक के असामान्य व्यवहार के कारण शारीरिक और संवेगात्मक दोनों हो सकते हैं। संवेगात्मक कुव्यवस्था का कारण वातावरण हो सकता है। वातावरण-सम्बन्धी बातों में अधोलिखित बातें आ सकती हैं—(1) बुरा नैतिक वातावरण, (2) माता-पिता अथवा दोनों का मानसिक असन्तुलन, (3) अच्छी बातें सिखला सकने में माता-पिता की अयोग्यता तथा झगड़ालू घर। जोर्डन के अनुसार बालकों के कुव्यवस्थापन के निम्नलिखित कारण हो सकते हैं—

(1) प्रौढ़ों अथवा साथियों द्वारा चिढ़ाया जाना अथवा उनकी वास्तविक कल्पित उदासीनता जिससे आत्महीनता की भावना बालक में आ जाती है।

(2) काम-मूल प्रवृत्यात्मक किसी दोष के कारण मन में पाप भावना का जमना।

(3) कोई ऐसा शारीरिक दोष जिससे बालक अपने को कुरूप समझने लगे।

(4) माता-पिता द्वारा अत्यधिक लाड़-प्यार के कारण निकटवर्ती सामाजिक कार्यों में हाथ न बंटा सकना।

(5) स्कूल में असफलता के कारण दूसरे बालकों द्वारा अपमानित होना।

(6) भय उत्पन्न करने वाले संवेगात्मक धक्के।

(7) स्नायविक दुर्बलता से पीड़ित माता-पिता अथवा सम्बन्धियों की उपस्थिति।

(8) लगातार उद्दीपन, जैसे नित्य सिनेमा देखना।

(9) माता-पिता द्वारा बड़ी-बड़ी ऐसी अपेक्षाएं जिन्हें भौतिक साधनों से न पूरा किया जा सके।

(10) माता-पिता के आपसी झगड़े।

(11) माता-पिता के समुचित प्यार का न मिलना।

(12) माता-पिता के द्वारा एक-दूसरे का तलाक, जब कि बालक दोनों को बहुत अधिक प्यार करता है।

(13) कौटुम्बिक आर्थिक अवस्था के खराब होने के कारण अपने को अरिक्षित समझना।

(14) कुटुम्ब के अन्य सदस्यों से हतोत्साहित करने वाली तुलना करना।

(15) कुटुम्ब की आकांक्षाओं के अनुसार उन्नति करने में असमर्थ होना। उपर्युक्त बातों से यह जान पड़ता है कि बालक के पालन-पोषण तथा विकास पर उसके सामाजिक वातावरण का बड़ा ही प्रभाव पड़ता है। इस सामाजिक वातावरण में माता-पिता तथा पड़ोसी और साथियों द्वारा प्राप्त व्यवहार का विशेष महत्त्व होता है।

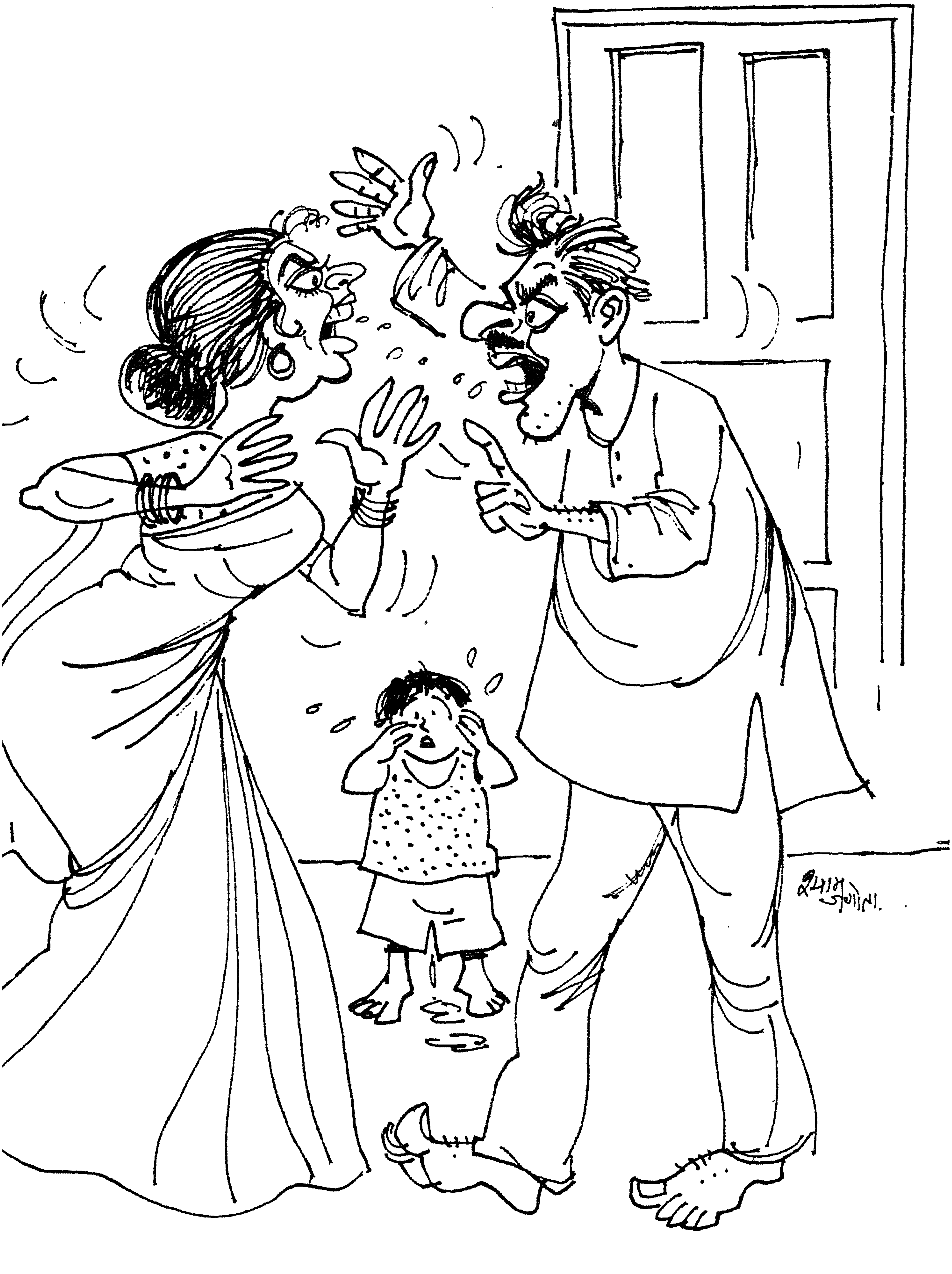

स्वाभाविक आवश्यकताओं की पूर्ति न होना

अपनी अनेक स्वाभाविक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बालक को दूसरों पर आश्रित रहना पड़ता है। फलतः उसे दूसरों के अनुसार भी अपने को व्यवस्थित करने की चेष्टा करनी होती है। इन आवश्यकताओं का तीन प्रकार से वर्गीकरण किया जा सकता है—(1) शारीरिक—जैसे भोजन, जल, नींद तथा अन्य शारीरिक सुविधाएं; (2) आत्म-सम्बन्धी—जैसे दूसरों से प्रशंसा, राय तथा अपनत्व की भावना पाने की इच्छा, (3) सामाजिक—जैसे दूसरों के कार्यों में हाथ बंटाने के हेतु कुछ सामाजिक कौशल प्राप्त करने की इच्छा। ये स्वाभाविक आवश्यकतायें बालकों के विभिन्न व्यवहार और कार्यों के लिए अभिप्रेरणाएं हो जाती हैं। इन अभिप्रेरणाओं की क्रियाशीतला में जब कभी किसी प्रकार की बाधा उपस्थित होती है तो बालक एक तनाव में आ जाता है। यदि यह तनाव गहरा हुआ और यदि उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होती तो उसके व्यवहार अवांछित रुख लेने लगते हैं। स्पष्ट है। कि व्यक्तित्व-व्यवस्थापन इन आवश्यकताओं की समुचित पूर्ति पर निर्भर करता है इन आवश्यकताओं की पूर्ति के प्रयास में अभिभावकों को यह भी याद रखना है कि उनकी अत्यधिक पूर्ति भी व्यक्तित्व के सन्तुलन को उसी प्रकार बिगाड़ सकती है जैसे उनका अवदमन व्यक्तित्व के स्वास्थ्य के लिए घातक होता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि बालक का स्वास्थ्य-विकास उसकी आवश्यकताओं की सन्तुलित पूर्ति पर निर्भर करता है। यदि बालक की शारीरिक और मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होती तो बालक के व्यक्तित्व का स्वस्थ विकास न होगा। उलझनों और भग्नाशाओं का सामना तो सभी बालकों को कुछ-न-कुछ करना ही होता है; परन्तु इनकी अवधि बहुत दीर्घ हो जाती है तो बालक अपराधी होने की ओर झुक सकता है। जैसे भोजन के न मिलने से शरीर जर्जरित होने लगता है उसी प्रकार बालक का मन जर्जरित होने लगता है और वह धैर्य खो बैठता है, जब उसकी विविध मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होती। यदि उसकी आवश्यकताओं की सदा समुचित पूर्ति होती रहे तो समाज में सुखी बालकों की संख्या बढ़ जाए और दुःखी तथा अपराधी बालकों की संख्या घट जाए। परन्तु बालकों की मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो पाती, क्योंकि उनकी पूर्ति करने में प्रौढ़ों को थोड़ा आत्म-नियन्त्रण करना होता है और वे इस आत्म-नियन्त्रण में सफल नहीं होते। इच्छाओं के दमन का कुपरिणाम विविध बालकों पर विभिन्न प्रकार से पड़ता है। कुछ बहुत ही साधारण बातों से ही अव्यवस्थित हो जाते हैं और कुछ पर बड़ी गहरी-गहरी बातों का भी विशेष प्रभाव पड़ते नहीं दिखलाई पड़ता। परन्तु हमें यह तो मानना ही पड़ेगा कि सभी बालक उन आवश्यकताओं की

पूर्ति चाहते हैं जिनके लिए आज तक मानव आपस में संघर्ष करता रहा है। अतः जो बालकों के प्रति उत्तरदायी हैं उनका यह कर्तव्य हो जाता है कि बालक के साथ वैसा ही व्यवहार करें, जैसा वे दूसरों से अपने लिए चाहते हैं।

अपराधी बालकों के उत्पन्न करने वाले उपर्युक्त मनोवैज्ञानिक कारणों की चर्चा के बाद हम नीचे उन कारणों पर दृष्टिपात करेंगे जो घर, बाह्य वातावरण तथा व्यक्तिगत बातों से सम्बन्ध रखते हैं।

किसी अपराधी बालक को अच्छी तरह समझने के लिए उसकी विशिष्ट परिस्थिति का अध्ययन करना चाहिए। प्रत्येक बालक की अपनी-अपनी परिस्थिति होती है। घर, स्कूल, साथी, पड़ोसी, कार्य-काल तथा अवकाश, समय आदि सभी बातों का बालकों के व्यक्तित्व-विकास पर प्रभाव पड़ता है। वर्तमान परिस्थितियों के आधार पर ही किसी अपराधी बालक के सम्बन्ध में कुछ निर्णय कर लेना ठीक न होगा, क्योंकि जो भूतकाल में हो चुका है उसका प्रभाव उसके व्यक्तित्व पर स्थायी रूप से जमा रहता है। अतः याद रखना है कि जन्म से ही कोई बालक अपराधी नहीं होता। उसके अपराधी होने का प्रधान कारण उसकी परस्थितियां ही होती हैं। केवल बाह्य रूप के देखने से ही अपराधी बालक को पहचान लेना अत्यन्त कठिन है; क्योंकि किसी सामान्य बालक और उसमें बाह्यतः कोई अन्तर नहीं दिखलाई पड़ता। किसी अपराधी बालक के समझने तथा उसके उद्धार के लिए हमें उसके वंशानुक्रम, सामाजिक इतिहास तथा तात्कालिक उत्पादक परिस्थिति का अध्ययन करना चाहिए। उसके अपराधी होने में ये सभी कारण अपना-अपना योग देते हैं। स्पष्ट है कि अपराधी बालक एक सामाजिक समस्या है और समाज को दृष्टि में रखते हुए उसके सुधार के उपयोगों की खोज हमें करनी है।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस नतीजे पर पहुंचते हैं कि अपराधी बालक के अवगुण जन्मजात नहीं होते और उसके ऐसे होने के कई कारण हो सकते हैं। अतः अपराधी बालक के किसी व्यवहार को समझने के लिए हमें कई दृष्टिकोणों को अपनाना होगा। नीचे हम ऐसे ही कुछ दृष्टिकोण पर अति संक्षेप में प्रकाश डाल रहे हैं। इन दृष्टिकोणों की चर्चा में घर, बाह्य वातावरण तथा कुछ व्यक्तिगत बातों पर विशेष ध्यान दिया जाएगा।

घरेलू कारण

प्रायः यह सोचा जाता है कि गरीबी बालक को अपराधी बना देती है। बालक के अपराधी बनने में गरीबी का प्रभाव अवश्य पड़ता है, क्योंकि गरीबी के कारण उसकी बहुत-सी इच्छाओं की पूर्ति नहीं हो पाती, और अपनी इच्छाओं की पूर्ति के

लिए वह अनैतिक साधनों की ओर झुक जाता है। न्यायालय में जितने अपराधी बालक उपस्थित किए जाते हैं उनमें अधिकांश गरीब कुटुम्ब वाले होते हैं। परन्तु हमें यह भी याद रखना है कि धनी घर के अपराधी बालक न्यायालय में बहुत ही कम लाए जाते हैं, क्योंकि उनके अभिभावक स्वयं उस सम्बन्ध में आवश्यक उपचार करने की चेष्टा करते हैं।

माता-पिता की बीमारी के कारण बच्चे प्रायः भूखे रह जाते हैं और वे अपनी साधारण शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भीख मांगने, चोरी करने तथा कुछ ऐसे कार्यों को करने की ओर झुक सकते हैं जिनसे घर का सारा वातावरण दूषित हो सकता है। ऐसी स्थिति के आ जाने पर लड़के घर छोड़कर बाहर चले जाना पसन्द करते हैं। बाहर जाकर वे घर की आर्थिक स्थिति को सुधारने का कुछ प्रयत्न भी कर सकते हैं। इस प्रयत्न में वे अनैतिक साधनों का सहारा ले सकते हैं। यदि मां को घर में छोटे-छोटे बच्चों को छोड़कर बाहर नौकरी अथवा मजदूरी करने जाना होता है तो इसका प्रभाव नियन्त्रणहीन बालकों पर बुरा पड़ सकता है। मां की अनुपस्थिति में लड़के मनमानी करने लगते हैं और ऐसी आदतें सीख सकते हैं जो बाद में उन्हें अपराध करने की ओर अभिप्रेरित कर सकती हैं।

अपराधी बालकों के अध्ययन में देखा गया है कि पिता के कड़े नियंत्रण में रहने वाले लड़के बहुधा अपराधी की कोटि में आ जाते हैं। पिता के कड़े नियंत्रण से उनकी स्वाभाविक इच्छाओं का दमन होता है। इस दमन के कुपरिणाम की ओर मां-बाप का ध्यान बहुत कम जाता है। वे सोच ही नहीं पाते कि बच्चों के साथ वे कर क्या रहे हैं। दमन का परिणाम कभी स्वस्थकर नहीं होता। इससे व्यक्ति अपनी स्वाभाविक इच्छाओं की पूर्ति चुपके-चुपके अनैतिक साधनों के सहारे करने की ओर झुक सकता है। पिता के अधिकारवाद का मन-ही-मन अथवा स्पष्टतः विरोध करते-करते उसमें सभी प्रकार के अधिकारियों के विरुद्ध हो जाने की प्रवृत्ति आ सकती है। इन प्रवृत्तियों के कारण कोई अपराध कर बैठना उसके लिए सरल हो सकता है।

पति-पत्नी के आपसी झगड़े का बालक पर बुरा प्रभाव पड़ता है। जिन घरों में ऐसे झगड़े आए दिन हुआ करते हैं उनके लड़के अपने को अरक्षित समझने लगते हैं। इस अरक्षित-भावना को दूर करने के लिए वे चोरी करना प्रारम्भ कर देते हैं, क्योंकि चोरी से प्राप्त वस्तुओं से वे अपनी स्थिति मजबूत बनाना चाहते हैं। यदि माता-पिता के झगड़े के कारण उन्हें घर में शान्ति नहीं मिल सकती तो वे शान्ति तथा अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बाहर चले जाना अच्छा समझते हैं। इस प्रकार का बाहर जाना उनके नैतिक विकास में बन्धन हो सकता है। बाल-निर्देशन

केन्द्रों का यह अनुभव है कि व्यवहार-सम्बन्धी समस्याओं वाले बालकों में घरेलू वातावरण में सुधार कर देने से स्वतः बड़े सुधार आ जाते हैं।

घर में सौतली मां अथवा सौतेले पिता की उपस्थिति का बालकों के विकास पर अवांछित प्रभाव पड़ सकता है। जब सौतेली मां अथवा सौतेले पिता के कारण बालक पहले जैसा प्यार नहीं पाता तो उसमें संवेगात्मक तनाव आ जाता है और वह अपराध की ओर झुक जाता है।

घर के विभिन्न बालकों को दो आंख से देखने से बालकों में परस्पर ईर्ष्या और वैमनस्यता आ जाती है। जब एक लड़के की दूसरे के सामने सदा प्रशंसा की जाती है तो अप्रशंसित बालक के ही नहीं, वरन् प्रशंसा करने वाले के भी विरोधी हो जाते हैं। इस विरोध में वे कुछ ऐसा करने की चेष्टा में आ सकते हैं जिससे उन्हें कुछ प्रशंसा मिले। इस चेष्टा में उनका व्यवहार अनैतिक हो सकता है। जिन लड़कों को घर में यथोचित प्यार नहीं मिलता उनके मन में असामाजिक भावना-ग्रन्थियां घर करने लगती हैं। ये भावना-ग्रन्थियां साधारण-से उद्दीपक के उपस्थित होने पर अवांछित व्यवहार की ओर व्यक्ति को अभिप्रेरित कर देती हैं। जिन लड़कियों को घर मे प्यार नहीं मिलता वे काम-भावना-सम्बन्धी अनैतिक व्यवहार की शिकार हुआ करती हैं। वे प्यार और सम्मान की भूखी हो जाती हैं और जो व्यक्ति उन्हें तात्कालिक ध्यान और सम्मान देने को तैयार होता है उस पर वे सब कुछ निछावर करने को तैयार हो जाती हैं।

अत्यधिक लाड़-प्यार का भी परिणाम बहुधा अवांछित ही होता है। जिन बच्चों की प्रत्येक इच्छा को पूरी करने की चेष्टा की जाती है और जिनके प्रत्येक इशारे पर नाचने के लिए सभी हर समय तैयार रहते हैं उनकी दशा वास्तव में आगे चलकर दयनीय हो जाती है। घर में तो उनकी किसी प्रकार निभ जाती है, परन्तु उनका बाहर निभना अत्यन्त कठिन हो जाता है; क्योंकि बाहर समाज में उन्हें घर—जैसा प्यार नहीं मिलता। ऐसे किशोर बच्चे में अपनी प्रवृत्तियों के जीव हो जाते हैं और जो ही मन में आता है उसी के अनुसार आचरण दिखलाने लगते हैं। 'बाल निर्देशक केन्द्रों' द्वारा अन्वेषण से पता चला है कि ऐसे लड़के बहुधा चोरी के अपराधी पाए जाते हैं।

जिन घरों में शराबखोरी, अनैतिकता तथा निर्दयता का वातावरण बना रहता है उनके लड़के बहुधा विभिन्न प्रकार के अपराध करते पाए जाते हैं। यह इतनी स्पष्ट बात है कि इसके लिए उदाहरण की आवश्यकता नहीं। कुछ ऐसे गरीब, अनैतिक और निर्दयी माता-पिता होते हैं जो अपने बच्चों को भीख मांगने अथवा चोरी करने के लिए विवश किया करते हैं।

अपराधी बनाने वाले अन्य कारण

प्रायः प्रत्येक शहर में कुछ ऐसे क्षेत्र होते हैं जिनमें विशेषतः ऐसे गरीब लोग रहते हैं जिनका रहन-सहन नैतिक नहीं कहा जा सकता। ऐसे लोगों के घरों के लड़के प्रायः अनैतिक कामों में लग जाते हैं, क्योंकि उनका वातावरण ही बड़ा अनैतिक होता है। मनोरंजन के लिए बुरे स्थान, जुआ खेलने का स्थान तथा वेश्यालय आदि उनके अनुभव के अंग होने लगते हैं, क्योंकि वातावरण में उपस्थित इन स्थानों का प्रभाव उनके चरित्र पर पड़े बिना नहीं रहता।

अपराधी बालकों के अध्ययन से पता चला है कि एक बालक दूसरों को किसी अनैतिक कार्य में लगने के लिए उत्साहित करता है और अन्य अपराधी बालक अपना एक समूह बनाकर अनैतिक व्यवहार के भागी होते हैं। यह अनैतिक व्यवहार ऐसा होता है कि जिसे कदाचित् कोई बालक अकेले करने का साहस न करता। ऐसे अनैतिक व्यवहार में रेलगाड़ी पर पत्थर फेंकना, बिना टिकट रेल-यात्रा करना, वर्जित जलाशयों में तैरना, वर्जित स्थान पर ऊधम मचाना तथा कहीं आग लगा देना आदि हो सकते हैं।

इस सामूहिक अनैतिक व्यवहार से यह जान पड़ता है कि यदि इन बालकों को अपने अवकाश-काल को बिताने का समुचित और स्वस्थकर साधन दिया जाता तो कदाचित् वे ऐसे कार्यों में न लगते। अतः समाज का यह कर्तव्य है कि वह बालकों के अवकाश-काल के उपयोग के लिए उचित साधनों का आयोजन करे। इस सम्बन्ध में स्कूल का भी कुछ कर्तव्य दिखलाई पड़ता है। 'सब धान बाइस पसेरी' की तरह बालकों की शिक्षा का आयोजन करना मनोवैज्ञानिक नहीं। शिक्षा में वैयक्तिक वैभिन्य पर ध्यान देना आवश्यक है। इससे बालकों की विशिष्ट शक्तियों का विकास होगा और उनकी विभिन्न मूल-प्रवृत्यात्मक इच्छाओं की पूर्ति होती रहेगी। यदि शिक्षा-क्रम में इस प्रकार का सुधार लाया जा सका तो अपराधी बालकों की संख्या कम करने में बड़ी सहायता मिलेगी।

फैक्टरी में काम करने वाले बालकों की भी दशा दयनीय होती है। फैक्टरी में उन्हें मशीन की तरह काम करना होता है। उनकी सभी कोमल भावनाओं पर तुषारापात हो जाता है। फलतः वे फैक्टरी में कार्य करने के बाद अनैतिक रूप में अपने अवकाश-काल को बिताने की ओर झुकते हैं। अपने मनोरंजन के लिए वे अवांछित स्थानों पर जाते हैं। इन स्थानों का उनकी नैतिकता पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता है।

व्यक्तिगत कारण

किसी शारीरिक दोष के कारण बालक का कोई अनैतिक व्यवहार अवश्यम्भावी नहीं; परन्तु शारीरिक दोष के कारण जो वह दूसरों का व्यंग सुना करता है, उससे

उसमें असामाजिक व्यवहार दिखलाने की प्रवृत्ति आ सकती है। उदाहरणार्थ जो बालक सदैव बीमार रहा करता है उसमें एक प्रकार की आत्महीनता की भावना आ सकती है और मन-ही-मन उन बालकों के प्रति विरोध-भावना ला सकता है जो प्रायः स्वस्थतर होते हैं। ऐसे बालक का अन्य बालकों के साथ निभना कठिन हो जाता है। मन्दगति से विकसित होने वाला बालक अपने को छोटा और तीव्रगति वाला अपने को बड़ा पाता है। ऐसी स्थिति में दोनों में एक प्रकार का ऐसा मानसिक असन्तोष उत्पन्न होता है जिससे अनैतिक व्यवहार की ओर झुकना कठिन नहीं होता। तीव्रगति से विकसित होने वाला बालक अपने से छोटे बालकों को विविध प्रकार से तंग कर सकता है; और मन्दगति वाला अपनी आत्महीनता-भावना के प्रतिक्रिया-स्वरूप अनैतिक व्यवहार दिखला सकता है।

किशोरावस्था में काम-सम्बन्धी भावनाओं के विकास के कारण लड़के और लड़कियां काम-सम्बन्धी बातें जानने की इच्छुक हो जाती हैं। माता-पिता अथवा अध्यापक इस सम्बन्ध में उनकी जिज्ञासाएं शान्त करने का साहस नहीं करते और किशोर भी इस सम्बन्ध में अपनी बातें उनसे कहने में बड़ा संकोच करते हैं। फलतः अपनी जिज्ञासाओं की पूर्ति करने के लिए वे अनैतिक साधनों का अवलम्बन लेते हैं।

बहुत-से अन्वेषकों का कहना है कि दोषयुक्त व्यवहार और मानसिक विकास की मन्दता में घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस घनिष्ठ सम्बन्ध की यहां व्याख्या करना हमारे क्षेत्र के बाहर की बात है। परन्तु इस सम्बन्ध में इतना कह देना आवश्यक है कि मन्द बालक में अनैतिक प्रलोभनों से अपने को बचाने का सामान्य बालकों की अपेक्षा कम सामर्थ्य होता है। अतः समाज का यह कर्त्तव्य है कि ऐसे बालकों की रक्षा के लिए आवश्यक उपायों का आयोजन करे।

उपर्युक्त विवेचन से यह जान पड़ता है कि बालक के अनैतिक व्यवहार के कई कारण हो सकते हैं और जो कारण स्पष्टतः दिखलाई पड़ता है वह वास्तविक हो भी नहीं सकता। इस वस्तुस्थिति के कारण ही अपराधी बालकों के उपचार में अभी तक पर्याप्त सफलता नहीं प्राप्त हो सकी है। बालक के किसी अनैतिक व्यवहार के मनोवैज्ञानिक, घरेलू, बाह्य वातावरण-सम्बन्धी तथा व्यक्तिगत कारणों को समझे बिना ही उसके सुधार के लिए उसे किसी संस्था को सुपुर्द कर देना ठीक नहीं। उसके सुधार के कार्यों में माता-पिता, अध्यापकों तथा निकटवर्ती समाज की सहायता अत्यन्त आवश्यक है। यदि वह सहायता ठीक से नहीं दी जा सकी तो अपराधी बालक भविष्य में प्रौढ़ अपराधियों की कोटि में आकर समाज को पीड़ा देने लगेगा। नीचे हम देखेंगे कि अपराधी बालकों के सुधार के लिए किन-किन उपायों का आलम्बन किया जा सकता है।

उपचार

ऊपर कहा गया है कि बालकों के अपराधी व्यवहार के कई कारण हो सकते हैं। स्पष्ट है कि उनके उपचार के लिए किसी एक साधन का उल्लेख नहीं किया जा सकता। विभिन्न बालकों के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के साधनों का आयोजन करना आवश्यक होगा। अपराधी बालकों का पता लगाना और पकड़ना पुलिस के हाथ की बात होती है। अतः पुलिस को अपराधी बालकों वाले न्यायालयों के कार्य-सिद्धान्त को अच्छी प्रकार समझना चाहिए की अपराधी बालकों के साथ कड़ाई दिखलाई तो न्यायाधीश के पुचकारने पर भी बालक अपने सम्बन्ध में ठीक-ठीक बातें न बतला सकेगा, क्योंकि तब उसके मन में न्यायालय की पूरी कार्य-प्रणाली के सम्बन्ध में एक विरोध-भावना उत्पन्न हो जाएगी। यदि अपराधी बालक हवालात में रखा जाता है तो उसे प्रौढ़ अपराधियों के सम्पर्क से दूर रखना चाहिए। उसकी उसी प्रकार रक्षा करनी चाहिए जैसे एक पिता अपने पुत्र की रक्षा करता है। अपराधी को पकड़ लेने के बाद पुलिस अधिकारियों का यह कर्त्तव्य है कि वे माता-पिता को शीघ्र सूचित कर दें और इस सम्बन्ध में उनकी सहानुभूति के लिए अनुरोध करें, क्योंकि बालक के अपराध करने में घर का वातावरण भी कुछ हद तक उत्तरदायी हो सकता है। अपराधी बालक को सदा न्यायालय में ही उपस्थित करना आवश्यक नहीं समझना चाहिए। यदि इसके बिना ही उचित व्यवस्थापन सम्भव है तो अत्युत्तम होगा। यदि न्यायालय में लाना आवश्यक हुआ तो यथासम्भव उसे तब तक माता-पिता के साथ ही रहने देना चाहिए जब तक उसके मामले का निर्णय नहीं हो जाता।

अपराधी बालक के अध्ययन में उसके सामाजिक इतिहास तथा शारीरिक और मनोविश्लेषणात्मक अन्वेषण पर विशेष ध्यान देना चाहिए। न्यायाधीश को बाल और किशोर मनोविज्ञान का पूरा ज्ञान होना चाहिए। अच्छा होगा यदि लड़कियों से सम्बन्धित बातों को जानने के लिए किसी योग्य महिला को नियुक्त कर दिया जाए। इस प्रकार के अन्वेषण में पूर्ण वातावरण सहानुभूति-पूर्ण होना चाहिए। अपराधी-बालक अथवा बालिका के आत्म-विश्वास उत्पन्न करना चाहिए। उनके साथ अपराधी जैसा व्यवहार नहीं करना चाहिए। उन्हें समाज का ऐसा सदस्य समझना चाहिए जिन्हें निर्देशन, सहानुभूति और सहायता की आवश्यकता है। उनके मामलों को सुनने के लिए न्यायालय में जनता का इकट्ठा होना अमनोवैज्ञानिक है। अन्त मे यथासम्भव बालक को माता-पिता की ही देख-रेख में दे देना चाहिए। उस राजकीय संस्था में बालक के लिए कुछ प्रबन्ध किया जाता है तो उस सम्बन्ध में कुटुम्ब वालों की राय बड़ी ही सहायक होगी।

अपराधी बालकों के उपचार के सम्बन्ध में माता-पिता का भी मनोवैज्ञानिक

अन्वेषण आवश्यक होगा। यदि किसी घरेलू कारण से बालक अपराध करने की ओर झुका तो उस कारण को पूरा जानना आवश्यक होगा। यदि पिता बेकार है और अपने बालकों को पैसा कमाने के लिए विवश करता है और इस विशेषता के कारण बालक अपराध करने को बाध्य होता है तो पिता को किसी लाभप्रद कार्य में लगा देना चाहिए। यदि पिता किसी संवेगात्मक अव्यवस्थापन का अभियुक्त है और उसके अत्याचार के कारण बालक अनैतिक आचरण दिखलाते हैं तो पिता की मानसिक चिकित्सा करना आवश्यक है।

अपराधी बालकों के उपचार के सम्बन्ध में बेकर फाउण्डेशन बोस्टन, यू॰ यस॰ ए॰ ने कुछ सुझावों का प्रतिपादन किया है। इन सुझावों का नीचे संक्षेप में उल्लेख किया जा रहा है—

1. बालक की रुचियों के साथ माता-पिता की सहानुभूति।
2. माता-पिता का अपने व्यवहार में कड़ा न होना।
3. बालक की शारीरिक और मानसिक सीमाओं को समझना।
4. निर्दयता को बन्द करना।
5. कोसना बन्द करना।
6. रियायतें देना।
7. माता-पिता को अपने उत्तरदायित्व को निभाना।
8. अच्छा निरीक्षण करना।
9. बालक के उपचार को मामूली न समझना।
10. कौटुम्बिक गलतफहमी को दूर करना।
11. काम-सम्बन्धी भावनाओं के प्रति माता-पिता का मनोवैज्ञानिक और स्वस्थ विचार रखना तथा इस सम्बन्ध में बालक और बालिकाओं की जिज्ञासाओं को शान्त करना।
12. उचित घरेलू वातावरण उत्पन्न करना।
13. कुटुम्ब के अन्य सदस्यों के अनैतिक व्यवहार को बन्द करना।
14. कुटुम्ब से उन सम्बन्धियों को निकाल देना जिनका बालकों पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

बालक के अनैतिक अथवा नैतिक व्यवहार पर स्कूल का भी बड़ा प्रभाव पड़ता है। अतः अपराधी बालकों के उपचार के सम्बन्ध में स्कूल के उत्तरदायित्व की उपेक्षा नहीं की जा सकती। इस ओर ऊपर संकेत किया जा चुका है।

यदि स्कूल में बालक बुरे लोगों के संग में आ गया है तो उसे दूसरे स्कूल में स्थानान्तरित कर देना चाहिए। यदि बालक किसी विषय में कमजोर है और कक्षा

से भागकर अनैतिक काम में लग जाता है तो उस विषय में उसे कुछ अधिक सहायता देने का कुछ आयोजन करना चाहिए। इस आयोजन में सहानुभूति का होना आवश्यक है।

यदि अपराधी बालक के लिए किसी कार्य की आवश्यकता है तो इसके लिए शीघ्र ही प्रबन्ध करना चाहिए। यदि अवकाश-काल के बिताने के लिए स्वस्थकर साधनों की आवश्यकता जान पड़े तो तदनुसार प्रबन्ध करना चाहिए।

अपराधी बालकों के उपचार का प्रधान उद्देश्य उनके अच्छे चरित्र-निर्माण का है। अतः इस उपचार के क्रम में सम्बन्धित व्यक्तियों को देखना चाहिए कि बालक का संवेगात्मक तथा मानसिक विकास इस प्रकार हो कि उसमें अच्छी आदतें आ जाएं।

यदि अपराधी बालकों को राजकीय संस्थाओं में रखना आवश्यक ही जान पड़े तो इन संस्थाओं का रूप घर के समान होना चाहिए। इनमें बालकों के ऊपर किसी प्रकार का अनुचित नियंत्रण नहीं होना चाहिए। सारा व्यवहार सहानुभूति के रस से सना होना चाहिए। ऐसी संस्थाओं का उद्देश्य समाज को योग्य सदस्यों को देना है। इस उद्देश्य में वे तभी सफल हो सकती हैं यदि वे मनोवैज्ञानिक रीतियों का सहारा लेती हैं।

अपराध-प्रवृत्ति को रोकने के उपाय

बालकों की अपराध-प्रवृत्ति को रोकने के लिए किसी एक ऐसे उपाय की चर्चा नहीं की जा सकती जो कि प्रत्येक स्थिति में लागू हो, क्योंकि उनकी अपराध-प्रवृत्ति के कई कारण होते हैं। इस सम्बन्ध में जो रुचि रखते हैं उन्हें इस क्षेत्र के सभी उपलब्ध साहित्य से परिचित होना चाहिए जिससे इस सम्बन्ध वाली आधुनिक विचार-धारा से वे अवगत रहें। इसके बाद उन्हें यह समझना है कि अपराधी बालकों की मानसिक और संवेगात्मक स्थिति तथा कुछ अन्य सामाजिक बातें प्रस्तुत समस्या की उत्पत्ति के लिए उत्तरदायी हैं। इन दोनों बातों को निश्चित रेखा से अलग नहीं किया जा सकता, क्योंकि दोनों एक-दूसरे पर निर्भर होती हैं। परन्तु दोनों को अलग-अलग समझ लेना समस्या के निराकरण में बड़ा सहायक होगा।

वस्तुतः अपराध-प्रवृत्ति को रोकने का कार्य बालक के जन्म के पूर्व ही प्रारम्भ कर देना चाहिए। राज्य का यह कर्त्तव्य है कि जो पति-पत्नी विषम मानसिक रोगों से पीड़ित हैं उन्हें सन्तानोत्पादक शक्ति से हीन कर दे। इस सम्बन्ध में कुछ वैज्ञानिक साधनों का आविष्कार किया जा चुका है।

शिशु के गर्भ में आ जाने के बाद माता के स्वास्थ्य पर विशेष ध्यान देना चाहिए

जिससे शिशु का स्वास्थ्य बुरा न हो। जन्म के बाद लालन-पालन इस प्रकार का हो कि शिशु अच्छी ही आदतों को अपनाये। इस सम्बन्ध में नर्सरी स्कूलों की उपयोगिता की ओर संकेत किया जा सकता है।

समय-समय पर स्कूल के अध्यापकों को लड़कों के घर जाते रहने की एक निश्चित व्यवस्था होनी चाहिए जिससे वे बच्चों के लालन-पालन में माता-पिता की आवश्यक मनोवैज्ञानिक सहायता कर सकें। विकासावस्थानुसार बालक और बालिकाओं की काम-मूल-प्रवृत्ति सम्बन्धी जिज्ञासाओं को सन्तुष्ट करते रहना चाहिए जिससे उनकी सन्तुष्टि के लिए वे अवांछित साधनों का सहारा न लें।

बहुधा यह देखा जाता है कि माता-पिता की गरीबी के कारण बालकों को उन धन्धों में जाना पड़ता है जिनके लिए उनमें रुचि नहीं होती। इसका फल साधारणतः अपराध-प्रवृत्ति का उत्पन्न करना ही होता है। अतः व्यावसायिक निर्देशन का कार्यक्रम इस सम्बन्ध में बड़ा सहायक हो सकता है, क्योंकि इससे बालकों को मनोवांछित धन्धा पाने में बड़ी सहायता मिलेगी।

ऊपर यह कहा जा चुका है कि अवकाश-काल के दुरुपयोग से बालकों में अपराध-प्रवृत्ति बढ़ती है। अतः अवकाश-काल के सदुपयोग तथा मनोरंजन के लिए स्वस्थ साधनों का आयोजन करना अत्यन्त आवश्यक है। बालकों के लिए क्लब अथवा गोष्ठी तथा स्काउटिंग आदि का प्रबन्ध होना चाहिए, जिससे अपनी विकासावस्थानुसार वे सामूहिक खेलों में भाग ले सकें।

राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह नियुक्त पुलिस अधिकारियों द्वारा उन स्थानों का निरीक्षण करता रहे जो मनोरंजन के सस्ते व्यापारिक साधनों का आयोजन करते हैं और अबोध बालक और बालिकाओं को फंसाते हैं। जो व्यक्ति अवांछित प्रवृत्ति के होते हैं उन पर भी पुलिस की कड़ी निगरानी होनी चाहिए।

हमारे देश के कुछ बड़े-बड़े शहरों में बच्चों द्वारा भीख मंगवाने की समस्या बड़ी कठिन होती जा रही है। इन भीख मांगने वाले बच्चों का अपराध-प्रवृत्ति का अपनाना कठिन नहीं होता। अच्छा होगा यदि उन बच्चों को कोई कार्य दिया जाए और कानून द्वारा भीख मांगना अवैधानिक बना दिया जाए।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अपराधी बालकों के उद्धार के लिए हमें कई प्रकार के कार्य करने होंगे और इसमें माता-पिता, अध्यापक, स्कूल, समाज तथा राज्याधिकारी सभी का अपना-अपना कर्त्तव्य है। यदि सभी अपने-अपने कर्त्तव्य पर ध्यान दें तो उनका उद्धार करना कठिन न होगा।

सामाजिक चेतना का विकास

व्यक्ति के रूप में बालक के व्यक्तित्व का विकास बहुत अंशों में एक सामाजिक व्यक्ति की दृष्टि से उसके विकास पर निर्भर करता है। एक व्यक्ति निर्जन स्थान में जीवित नहीं रह सकता। जब वह समाज के विरुद्ध अपनी सत्ता स्थापित करता है, अथवा उसका प्रयत्न करता है; या जब उसकी अन्य व्यक्तियों से तुलना की जाती है, उसका व्यक्तित्व और स्पष्ट हो उठता है। अलेक्जेंडर शलकिर्क और राबिन्सन क्रूसो जब निर्जन द्वीप में पहुंच जाते हैं; हम उन्हें सत्यवादी या गुणवान नहीं कह सकते हैं। क्योंकि जब वहां दूसरा कोई व्यक्ति था ही नहीं, तब झूठ या सच बोलने का कोई अवसर ही नहीं उत्पन्न होता। यह समाज ही है जो व्यक्ति की सामाजिक स्थिति, गुण और चरित्र का निश्चय करती है। जैसे-जैसे बालक उन्नति करता है, उसकी समाज में अन्य व्यक्तियों से सम्पर्क स्थापित करने की योग्यता भी बढ़ती है। इस प्रकार वह शारीरिक और सामाजिक दोनों प्रकार से समायोजन करने का प्रयत्न करता है। जितना अधिक वह समायोजन कर पाता है, उतना ही उसका व्यक्तित्व विकसित होता है, तथा वर्ग के मध्य उसकी अकेली सत्ता के साथ, विकास होता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि यथार्थ में बालक का सामाजिक मण्डल ही उसके व्यक्तित्व और उसकी सत्ता के विकास में सहायक होता है।

सम्भवतः जन्म के समय बालक को सामाजिक चेतना नहीं होती है। उसकी समस्त आवश्यकताएं मां के द्वारा ही पूरी हो जाती हैं। अर्थात् उसका जीवन ही मां पर निर्भर होता है। सामाजिक सम्बन्ध का सम्भवतः यह नितान्त प्रारम्भिक रूप होता है। इसमें माता और सन्तान दो प्राणी होते हैं। धीरे-धीरे बालक केवल माता ही नहीं वरन् अन्य व्यक्तियों के साथ अपना सामाजिक सम्बन्ध मुस्कराकर, उनकी ध्वनियों का अनुकरण करके तथा संकेतों द्वारा प्रकट करती है। इस प्रकार मुस्कराहट केवल आनन्द के संकेत को ही नहीं प्रकट करता है, वरन् इसमें सामाजिकता भी सम्मिलित होती है। बालक अपनी प्रसन्नता को दूसरों तक पहुंचाना चाहता है। इस समय वह भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के साथ भिन्न-भिन्न प्रकार का व्यवहार करता है। किसी को देखकर वह केवल मुस्कराता है, और किसी को अपने छोटे हाथों से धक्का देता है जिससे वह गोद में ले ले। जब बालक छः महीने का होता है, वह अन्य बालकों पर

ध्यान देना भी आरम्भ करता है। सम्भवतः वयस्कों की तुलना में उसका छोटा शरीर और वयस्कों की अपेक्षा अपनी ही आवाज से मिलती हुई उनकी आवाज उसे इस बात का आश्वासन देती है कि बड़े लोगों की अपेक्षा यह उसके अधिक निकट है। पर यह प्रारम्भिक आकर्षण केवल कौतूहल-मात्र होता है। अन्य बालकों के प्रति आकर्षण के विकास में कुछ समय लगता है। बालक में दूसरे बालकों के प्रति पर्याप्त आकर्षण का विकास तब तक नहीं हो पाता जब तक वह अठारह महीने का नहीं हो जाता। इस समय वह उनके साथ खेलने-योग्य होता है। कुछ बालकों में यह अवस्था देर में, अर्थात् दो वर्ष की अवस्था के पश्चात् आती है। इस समय भी इस प्रकार के खेलों का समय बहुत कम होता है। बालक के अधिकांश खेल उसकी व्यक्तिगत क्रियाओं में सीमित होते हैं। साढ़े चार अथवा पांच वर्ष की अवस्था तक जहां तक खेल-विषयक क्रियाओं का सम्बन्ध है; बालक का अधिकांश समय व्यक्तिगत खेलों में व्यतीत होता है, और अन्य बालकों के साथ मिलकर खेलने वाले अवसर नाटक के विष्कम्भक के समान कभी-कभी आते हैं। अतः हम कह सकते हैं कि पांच वर्ष की अवस्था तक बालक के खेलों से प्रकट होता है कि वह समाज में तो रहता है पर समाज का नहीं होता।

उसका खेल-सम्बन्धी दृष्टिकोण कुछ भी हो, पर बालक बड़ों के समाज से उदासीन नहीं रहता। वह दोनों ही ओर आकर्षण का अनुभव करता है। वह अपनी अवस्था के बालकों में रुचि रखता है, और यह भी चाहता है कि वयस्क उसकी प्रशंसा करें और उस पर ध्यान दें। वह अपने कार्यों तथा बचपन के खेल-कूद के लिए बड़ों की अनुमति चाहता है, और ऐसा काम करने में झिझकता है जिसके लिए उसे मना किया जाए अथवा डांटा जाए। जान डिवी के समान शिक्षा-शास्त्री यह कहते हैं कि बालक के अनुकरण उसके समाजीकरण के प्रमाण हैं। बालक का वयस्कों के कार्यों का अनुकरण यह प्रकट करता है कि बालक किस प्रकार सहयोग के साथ सामाजिक कार्यों में व्यस्त है। वह अपने चारों ओर के मण्डल के प्रति सचेत रहता है, और यह देखने में गलती नहीं करता है कि किस प्रकार अन्य लोग उसका निरीक्षण कर रहे हैं। वह अपने खेलों में अन्य लोगों की स्वीकृति प्राप्त करता है तब उसकी रुचि और बढ़ जाती है।

ऐसा प्रतीत हो सकता है कि बालक जिस समय ट्रेफिक पुलिस का खेल खेलता है, अथवा कुर्सी को गाड़ी के डिब्बे की तरह प्रयोग में लाता है, वह अपने प्रयोग से स्वयं आनन्द प्राप्त कर रहा है, पर इसका गम्भीरता से विश्लेषण करने पर हम पाते हैं कि उस समय वह दूसरों की स्वीकृति पाना चाहता है। जब वह दूसरों को अपने कार्य से प्रसन्न होता देखता है, वह और अधिक उत्साहित हो जाता है। यहां

तक कि जब अपने पिता के जूते पहनकर अपनी तोतली भाषा में कहता है कि 'मैं पिता हूं।' वह समाज में उच्च स्थान, जिसे वह अपने पिता को उपयोग करते देखता है, उसे प्राप्त करने की आकांक्षा प्रकट करता है। अपने अनेक काल्पनिक खेलों में वह बड़े होने की कल्पना करता है। क्योंकि वह समाज में अपेक्षाकृत अपनी हीन-अवस्था के प्रति सचेत रहता है, और इसके लिए पीड़ा का अनुभव करता है। इन सबमें हम देखते हैं कि बालक अपने चारों ओर की सामाजिक स्थिति से समाज में हीनता और उच्चता के महत्त्व का ज्ञान प्राप्त करता है।

बालक को खेलने, भाषा पर अधिकार करने अथवा शिष्टाचार सीखने, प्रत्येक प्रकार के कार्य में उन्नति की ओर प्रेरित करने वाले, उत्साहवर्धक शक्ति, वयस्कों के द्वारा स्थापित किए आदर्शों के प्रति बढ़ता हुआ ज्ञान ही हैं। यदि बहुत छोटी अवस्था से ही उनके व्यवहार में जातिगत अन्तर दृष्टिगोचर हों (उदारहरण के लिए बालक लड़ते अधिक हैं और बालिकाएं रोती अधिक हैं) तो इसका कारण भी समाज में बालक-बालिकाओं के लिए स्थिति की स्थापना ही है। बालिकाओं में उग्रता की भावना का समाज में बहुत छोटी अवस्था से ही विरोध किया जाता है। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि इसी कारण छोटी अवस्था से ही बालकों की अपेक्षा बालिकाएं अधिक विचारशील होती हैं।

सामाजिकता के ज्ञान के क्षेत्र

जब बालक और बालिकाएं पाठशाला में प्रवेश करते हैं; चाहे किंडर गार्टन हो अथवा प्रारम्भिक पाठशाला, सम्भवतः एक नया परिवर्तन होता है। जो बालक पाठशाला नहीं जाते अथवा देर से आते हैं उनमें यह परिवर्तन कुछ देर में देखा जाता है। फिर भी सड़क के कोनों में, पड़ोस में अथवा खेल के समूहों में यह परिवर्तन देख जा सकता है।

ये पाठशाला अथवा खेल के समूह ही हैं जहां बालक अपने व्यक्तित्व को दृढ़ करने के लिए उचित स्थान पाता है। परिवार में शासन का वातावरण होता है, बालक अपने बड़ों से घिरा रहता है जिनके निर्देश सम्भवतः छोटी अवस्था में वातावरण पर आवश्यक अधिकार प्राप्त करने के लिए अनिवार्य होते हैं। इतना कर लेने के पश्चात् वह कुछ अंशों में स्वतंत्रता प्राप्त कर लेता है। अपने खेल के समूह में अथवा पाठशाला में बालक लगभग अपनी ही उस और योग्यता के बालकों के बीच में रहता है। अतः अपने व्यक्तित्व को दृढ़ता से स्थापित करने के लिए यह आदर्श स्थान होता है। सामूहिक खेलों में एक नेता अथवा प्रबन्धक होना चाहिए। लेकिन इतनी छोटी अवस्था में बालक नेतृत्व का अर्थ स्पष्टता से नहीं समझते। सम्भवतः कोई अधिक

बुद्धिमान बालक किसी कार्य का नेतृत्व करता है लेकिन देखता है कि अन्य बालक उसके इस नेतृत्व का विरोध करते हैं। निरन्तर मित्रता का टूटना और स्थापित होना इस अवस्था में अपवाद के स्थान पर नियम होता है। इस अवस्था में भी हमें यह सोचना चाहिए कि बालक अहंवादी है। क्योंकि इस समय भी वह सामाजिक गुणों के प्रति असावधान नहीं होता है। यदि अक्सर नेतृत्व का विरोध किया जाता है तो इसका कारण यह है कि नेतृत्व के साथ सामाजिक सम्मान सम्मिलित रहता है और प्रत्येक बालक लड़कर उसे प्राप्त करना चाहता है। अतः वह दूसरे की आज्ञाओं का पालन करना पसंद नहीं करता। निश्चित नेता के नेतृत्व में सामुदायिक खेल की महत्ता का ज्ञान विकसित होने में समय लगता है। सम्भवतः किस प्रकार के खेलों में उस अवस्था के बालक व्यस्त रहते हैं। वे साधारण खेल होते हैं, जिनमें एक निश्चित नेता के अधीन एक स्थिर संगठन की आवश्यकता नहीं होती है।

धीरे-धीरे बालक समझने लगते हैं कि खेल तथा अन्य अनेक कार्यों में स्थिर और परिवर्तनशील नियम तथा नेतृत्व वाले संगठित सामुदायिक कार्यों द्वारा ही सफलता मिल सकती है। बन्धनहीन समूह अनिश्चित दलों अथवा समूहों में परिवर्तित हो जाते हैं। ऐसी परिस्थिति में अधिक बुद्धिमान बालक नेतृत्व ग्रहण करता है जब कि खेल तथा अन्य स्वतंत्र कार्यों में यह स्थिति होती है कि पाठशाला के अन्य नियमित कार्यों में एक प्रकार की शासन-व्यवस्था पायी जाती है। यह घर में पायी जाने वाली शासन-व्यवस्था से भिन्न नहीं होती। यहां अध्यापक निश्चित रूप से स्वीकृत नेता है। उसकी वयस्कता, उसका बालकों की दृष्टि में वृहत ज्ञान, कुछ सम्बन्धों में घर के माता-पिता से समानता और कुछ सम्बन्धों में उनसे मिलता, प्रारम्भिक पाठशाला के अशिक्षित को यह अधिकारपूर्ण पद प्रदान करती है जो कोई भी माध्यमिक अथवा विश्वविद्यालय का अध्यापक कभी भी पाने की आशा नहीं कर सकता। शिक्षित की एक मुस्कराहट अथवा एक प्रशंसा का शब्द बालक के जीवन को पाठशाला में रहने योग्य बनाता है, जब कि व्यंगपूर्ण वचन कम-से-कम पाठशाला की पढ़ाई को उस बेचारे प्राणी के लिए नरक तुल्य बना देते हैं।

उम्र के बढ़ने के साथ बालक में स्पर्द्धा की भावना और अपने प्रदर्शन की भावना जागृत होती है। लेकिन यह वृत्ति भी सामाजिक है, क्योंकि जब अन्य बालक दौड़ रहे हों, वह सबसे आगे निकल जाना चाहता है। प्रदर्शन की अत्यधिक इच्छा का अर्थ है कि उसके विरोध में कुछ अन्य बालक हैं जिनमें वह अधिक श्रेष्ठ बनना चाहता है।

बहुत अंशों में बालक का अपने समूह के प्रति व्यवहार उसके पारिवारिक पोषण से निश्चित होता है। यदि बालक पर बहुत अधिक प्रेम का प्रदर्शन किया

जाएगा तो वह स्वभावतः उच्छृंखल हो जाएगा, और अपने संवेगों को वश में करने में असमर्थ रहेगा। वह उग्र खेलों का भी परिहास करेगा। ऐसा बालक स्वभावतः सामूहिक खेलों में असुविधा अनुभव करेंगे, और धीरे-धीरे उद्योगहीन हो जाएंगे। वे वयस्कों में मिलने का प्रयत्न करेंगे जहां वे अपनी अवस्था के बालकों से अधिक सहायता और सुरक्षा की आशा करते हैं। यह बालक ऐसे घर से आता है, जहां माता-पिता और विशेषकर माता लापरवाह है, बालक अपने माता-पिता की उपेक्षा की पूर्ति अनुचित रीति से अपनी अवस्था के बालकों के बीच प्रदर्शन द्वारा करने का प्रयत्न करेंगे। पर इससे कुछ समय बाद ही अन्य बालक उससे ऊब जाएंगे और वह अकेला रह जाएगा। ऐसे घरों से, जहां माता-पिता के सम्बन्ध अच्छे नहीं होते, आने वाले बालक उग्र हो जाते हैं। ऐसे बालक या तो अपनी मण्डली के सरदार बन जाते हैं, अथवा अत्यधिक स्वीकृति चाहने के कारण अपने साथियों द्वारा त्याग दिये जाते हैं। जब बालक ऐसे घरों से आते हैं, जहां वयस्क अपनी बुद्धि और सहयोग से बालकों का उचित रीति से निर्देशन करते हैं, तभी हम उन्हें सहयोगी पाते हैं जो पाठशाला से कुछ लेने आते हैं।

मूर्खता से बालकों के शोषण से जो बाधाएं उत्पन्न हो जाती हैं, उनके साथ-ही-साथ हमें उन बाधाओं का भी ध्यान रखना चाहिए जो सामाजिक और आर्थिक स्थिति के कारण उत्पन्न होती हैं। धनी परिवारों के बच्चे कभी-कभी निम्न श्रेणी के बच्चों से मिलने के लिए रोके जाते हैं। इनसे केवल सामाजिकता में ही बाधा नहीं पहुंचती है, वरन् कभी-कभी पिता और बालक में विरोध हो जाता है। कुछ स्थितियों में अधिक नम (Docile) बच्चों में बहुत छोटी अवस्था से ही हानिकारक वर्गचेतना उत्पन्न हो जाती है, जो एक वर्गहीन समाज, जिसकी स्थापना हमारा उद्देश्य है, के लिए अत्यन्त हानिकारक है। धार्मिक, प्रान्तीय और जातिगत मित्रता न हमारे देश में इसी प्रकार के अवरोधक (Barriers) खड़े कर दिए हैं। एक धर्म को मानने वाले बालकों के साथ खेलने के लिए रोके जाते हैं। इसके परिणामस्वरूप मित्र-धर्म वाले वर्गों में मिथ्या धारणा का विकास होता है। यह हमारे देश के समान जाति-बन्धन को न मानने वाले देश के सम्मुख बड़ी कठिन समस्या हो जाती है। प्रान्तीय और अन्य जाति के प्रति घृणा भी पाई जाती है। इसका मुख्य कारण यह है कि बहुत छोटी अवस्था से ही बालकों को भिन्न प्रान्त अथवा भिन्न जाति के बालकों से मिलने के लिए मना किया जाता है। अतः रवीन्द्रनाथ टैगोर के शब्दों में 'हम वयस्क ही बच्चों के छोटे और स्वतंत्र संसार को संकीर्ण घरों की दीवार में विभाजित करने के जिम्मेदार हैं।'

सम्भवतः एक बुद्धिमान शिक्षक इस प्रकार की परिस्थिति का बहिष्कार करने

में बहुत कुछ कर सकता है। एक ओर वह अपने माता-पिता को अपने दृष्टिकोणों में अधिक विवेकी होने के लिए बाध्य कर सकता है। पर सम्भवतः इसमें वह सदा सफल नहीं हो सकता। लेकिन इसके अतिरिक्त माता-पिता के विश्वासों को चोट पहुंचाए बिना वह अपनी शिक्षा के द्वारा सामूहिक खेलों और सहयोगी सामुदायिक खेलों द्वारा प्रभावशाली सामाजिकता के प्रचार का अवसर कर सकता है। इस प्रकार के कार्यों में एक रसोइए का लड़का और एक धनिक का पुत्र (धनी और निर्धन) एक साथ मिल सकेंगे। धार्मिक और जातिगत भिन्नताएं भी अलंघनीय अवरोध करने से रोकी जा सकती हैं। बहुत छोटी अवस्था से दोनों की एक साथ भोजन-व्यवस्था को केवल माता-पिता के घोर विरोध पर ही हटाया जा सकता है। पर भिन्न जाति और धर्म के बालकों को समाजीकरण के अन्य अनेक अवसर प्रदान किए जा सकते हैं यह कार्य केवल एक कुशल प्रारम्भिक अध्यापक द्वारा ही सम्भव है जो अपने विवेकपूर्ण निर्देशन द्वारा जाति-वर्गहीन भारतीय समाज का बीज बो सकता है, जो वर्तमान के स्वप्न पर भविष्य में अवश्य पूरा होगा।

किशोरावस्था

किशोरावस्था का आरम्भ होते ही, प्रत्येक बालक और बालिका अपने बनाए हुए अवरोधों में ही अपने को सीमित कर लेता है। यह भी स्थिति का ही परिणाम होता है। कैशोर अपने प्रति अत्यधिक सचेत रहता है। उसका यह विचार कि वह समाज के अयोग्य है, उसे समूह को छोड़कर एक घोंघे के समान—जो खतरे को आता देख अपने घोंघे में छिप जाता है—अपने द्वारा निर्मित कल्पना के संसार में रम जाने को बाध्य करता है। अपने को दृढ़ करने अथवा अहं की वृत्ति जो अभी तक बालक को बाह्य संसार में दूसरों से सम्पर्क स्थापित करने के लिए प्रेरित करती रही, किशोरवस्था में आकर अन्तर्मुखी हो जाती है। विशेष रूप से भिन्न समाज और आर्थिक वर्ग के बालक सम्पन्न परिवारों के बालकों के साथ स्वतन्त्रतापूर्वक मिलने में हिचकते हैं। छोटी अवस्था में धनी और निर्धन के बीच स्वतन्त्र सामाजिक सम्बन्ध में बाधा सम्पन्न माता-पिता की ओर से आती है, और अब यह झिझक स्वयं निर्धन बालकों की ओर से आती है। इसका कारण यह है कि अपने वस्त्र तथा अन्य वस्तुओं का अन्तर बहुत दुःखदायी रूप से अनुभव करते हैं। इस अवस्था में यह भी देखा जाता है कि निम्न सामाजिक-आर्थिक-वर्ग के बालकों का समाज से अस्वीकृत व्यवहारों के प्रति भिन्न प्रकार का सहन दृष्टिकोण होता है। वे कम सहनशील और कम उदार होते हैं, तथा अधिक अधिकार प्राप्त परिवार के बालकों की अपेक्षा उनमें दण्ड देने की तथा अधिकार की भावना अधिक होती है और यह फिर स्वतन्त्र

समाजीकरण के अवसरों को सीमित कर देती है।

दूसरे लिंग (Sex) के प्रति आकर्षण का विकास, जैसा कि पहले भी कह चुका है; इस अवस्था में अधिक दृष्टिगोचर होता है और यह भी यथार्थ में एक सामाजिक दृष्टिकोण है। लेकिन उसकी भी अपनी समस्याएं हैं। भारत-सरीखे देश में जहां यह आकर्षण अनाचार समझा जाता है, किशोर को स्वतन्त्रतापूर्वक मिलने की अपनी इच्छा का दमन करने के लिए बाध्य किया जाता है। बालक सम्भवतः इस संघर्ष का नाश करने के लिए, खेल के मैदान में अपना प्रदर्शन करने की ओर प्रवृत्त होता है, अथवा मोहल्ले के जमाव में सम्मिलित होता है, या शोख रंग के वस्त्र पहनता है। कभी-कभी इसी के साथ वह बाह्य रूप से लड़कियों के प्रति तिरस्कार की भावना (जो वास्तविक नहीं है) प्रदर्शित करता है। वह छोटी लड़कियों अथवा घर में छोटी बहनों को चिढ़ाने में प्रसन्नता का अनुभव करता है और यह उसके संघर्ष का, जिससे होकर वह गुजर रहा है, एक चिह्न है।

दूसरी ओर बालिकाएं सदा सावधान रहती हैं। वे दुराचार अथवा समाज द्वारा निषिद्ध किसी भी कार्य के प्रति बहुत सचेत रहती हैं। वे बड़ी संदेहशील होती हैं, और निर्दोष भाव से भी किसी लड़के की उनसे बात करने की इच्छा को वे बुरा समझती हैं। इस अवस्था में उनका अपने वस्त्रों और अलंकार की ओर विशेष आकर्षण उनकी प्रदर्शन की इच्छा को प्रकट करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि दोनों ही जाति के किशोरों के व्यवहार में विशेष रूप से दो सामाजिक इच्छाएं मिलती हैं। पहली दूसरों के सामने अपने प्रदर्शन का या कम-से-कम भद्दे न दिखाई देने की इच्छा, जो कि वास्तव में एक सामाजिक इच्छा है, और दूसरी वयस्कों की भांति दुराचारी न बनने के आदर्श को दृढ़ करना है। यह इच्छा भी सामाजिक है जो उन्हें अपनी आन्तरिक इच्छाओं को दमन करने की प्रेरणा देती है।

हमें व्यक्तिगत और सामूहिक स्थिति में भी भेद करना चाहिए। जब एक लड़का किसी लड़की से जिसे उसने पहले कभी नहीं देखा है, अकेले में बात करने का अवसर पाता है तब वह अत्यधिक शर्मा जाता है, और एक विचित्रता का अनुभव करता है। यह उसके अन्दर कार्य करती हुई तीन शक्तियों का परिणाम है। वह अपने को यथाशक्ति अच्छा व्यवहार करने वाला तथा शूर शक्ति प्रदर्शित करना चाहता है, और उसी समय दुःख के साथ यह भी अनुभव करता है कि वह और भी बुरी तरह से व्यवहार कर रहा है। इसके अतिरिक्त एक तीसरी भावना, समाज द्वारा स्थापित आदर्श, कि किसी भी लड़की से अधिक स्वतंत्रतापूर्वक बात करना पाप है, उसके दिमाग में आती है। इन शक्तियों का परिणाम यह होता है कि वे लड़के को यदि विक्षिप्त नहीं तो कम-से-कम भीरु और लज्जालु अवश्य बना देती हैं।

समूह में इस प्रकार के बालक कुछ साहसी और अनुचित रीति से उग्र दिखाई देते हैं। समूह बनाने की यह प्रवृत्ति किशोरावस्था के अंतिम काल में अधिक दिखाई देती है। यहां समूह ही उसका समाज होता है, जहां उसे अपना प्रदर्शन अवश्य करना चाहिए। इस समय का समूह केवल एक भीड़-मात्र होती है, जहां प्रत्येक व्यक्ति अपने महत्त्व की भावना से भरा है। प्रत्येक व्यक्ति को अतिक्रम कर जाना चाहता है, और इसके परिणामस्वरूप इस प्रकार के व्यवहार देखे जाते हैं जो कोई भी व्यक्ति अकेले में करने का साहस न करता।

यह समूह-निर्माण जैसा कि ऊपर भी कहा गया है अन्तिम किशोरावस्था की प्रमुख विशेषता है। क्योंकि एक समय अपने संवेगात्मक संघर्ष और किशोरावस्था की उन्नति से उत्पन्न शारीरिक समस्याओं से आक्रान्त किशोर अपने बनाए घोंघे में छिप जाने के लिए बाध्य होता है। किशोरावस्था के अन्त में मानो वयस्कों की दुनिया को चुनौती देता हुआ वह फिर लौटकर आता है और अपने खोए हुए स्थान को पुनः प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। यह प्रक्रिया व्यक्तिगत प्रयत्न के रूप में बहुत कम प्रकट होती है। साधारणतः वह अपने पुराने मण्डल-घर और विद्यालय में नीरसता का अनुभव करता है तथा विस्तृत संसार में एक स्थान प्राप्त करने की ओर प्रवृत्त होता है। इस अवस्था में संघर्ष की ओर प्रवृत्ति दिखलाई पड़ती है। अन्य सब समूहों की भांति अन्तिम किशोरावस्था के यह समूह भी बिना किसी विचार के व्यवहार करते हैं। सम्भवतः इस समूह की मानसिक अवस्था की जड़ में प्राचीन काल के सामाजिक संगठन की अस्पष्ट पुनरावृत्ति रहती है; जब नवयुवक पुराना पारिवारिक सम्बन्ध तोड़कर पहले संघ स्थापित करते थे और जिसने उन्हें अपने घर स्थापित करने में सहायता दी। सम्भवतः इस समय प्रकट होने वाली कक्षा से भागने की विशिष्ट भावना का मूल भी यही वस्तु होती है। इस समय की मित्रता अपेक्षाकृत स्थायी होती है और रुचि की एकता, योग्यता की समानता अथवा सामाजिक-आर्थिक स्तर की समानता; इन तीन बातों में से किसी एक के द्वारा निर्धारित होती है।

शिक्षा की दृष्टि से यह काल बड़े कुशलतापूर्वक प्रबन्ध की मांग करता है। किशोरावस्था के प्रारम्भ में पलायन की प्रवृत्ति या काल्पनिक संसार में विचरण करने की प्रवृत्ति रहती है। अतः अध्यापक का सारा प्रयत्न बालक में आत्म-विश्वास की भावना उत्पन्न करने में केन्द्रित होना चाहिए। कल्पना को निर्माण की दशा की ओर उन्मुख करना चाहिए। यह किशोर को कला, संगीत, साहित्य और विज्ञान-सरीखे उत्पादक कार्यों को करने के लिए उत्साहित करके किया जा सकता है। किशोर इस अवस्था में लज्जालु होता है; अतः अध्यापक को उसे विश्वास और सामाजिकता के लिए अवसर प्रदान करने चाहिए, जिससे वह फिर सामूहिक जीवन में प्रवेश करे।

ऐसा करने के लिए सम्भवतः अध्यापक किशोरावस्था के अन्तिम काल में भी उन्हें उत्साहित करेगा, जब कि समूह बनाना उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति हो जाती है। पर अन्तिम किशोरावस्था की समस्या एकान्तता नहीं, वरन् उग्रता है और यह उग्रता का स्वभाव अधिकांश समूह में प्रतिक्रिया के अवसर पर दिखलाई देता है। यह अवसर अध्यापक से बहुत कौशल और विवेक की मांग करता है। उसे समूह की प्रधानता प्रकृति का ज्ञान् होना चाहिए। जहां प्रत्येक व्यक्ति अपने को बहुत महत्त्व देता है और दूसरे को अतिक्रम कर जाना चाहता है। यह सब व्यक्ति के अहं को प्रकट करता है और यह अध्यापक का कार्य है कि वह इस नव-विकसित अहं-भावना को प्रत्येक संघर्ष के अवसरों का बहिष्कार करते हुए समाज-स्वीकृत उत्पादक मार्ग की ओर उन्मुख करे।

सम्भवतः यह कार्य सामाजिक सेवा शिविर (Social Service Camp) बालचर तथा अन्य इसी प्रकार की क्रियाओं का संगठन करके कर सकता है, क्योंकि सौभाग्य से किशोर कोई अच्छा कार्य अथवा दूसरों का उपकार करने के लिए सदा-तत्पर रहता है। कार्य सौंपने पर उस पर विश्वास किया जाए और क्या अच्छा है तथा क्या बुरा है यह निश्चित करने का अवसर प्रदान किया जाए। लड़कियों को परिचर्या अथवा इसी प्रकार के अन्य समाज-सेवा के कार्य सौंपे जा सकते हैं। अन्तिम किशोरावस्था में प्रभूत परिमाण में शक्ति होती है। समाज इसका बहुत कम लाभ उठाता है। बुरे मार्ग में लग जाने पर झगड़े और संघर्ष का कारण होती है, लेकिन यदि उचित रीति से मार्ग-प्रदर्शन किया जाए, वह केवल किशोर को उचित कार्य में लग जाने का सन्तोष नहीं देगी, वरन् समाज भी इससे बहुत लाभ उठा सकता है यह शिक्षक और नवयुवक आन्दोलन के नेताओं का कार्य है कि वे इस प्रकार के मार्ग और साधन प्रस्तुत करें जो उन्हें अपनी शक्ति का श्रेष्ठतम उपयोग करने योग्य बना सकें।

सामाजिक प्रतिक्रिया में वैयक्तिक भेद

प्रारम्भिक शिशुकाल से ही हम देखते हैं कि कुछ शिशु अधिक सामाजिक और उत्तर देने वाले होते हैं जब कि दूसरे शर्मीले होते हैं। यह अन्तर उनके पोषण के ढंग के अन्तर के कारण होता है। यद्यपि दोनों का पोषण एक ही परिवार में होता है। जबकि एक बालक दूसरे लोगों में कुछ असाधारण आकर्षण दिखलाता है, उसके माता-पिता और गुरुजन अपनी स्वीकृति प्रकट कर उसे प्रोत्साहन देते हैं। यह स्वभावतः उसे अधिक सामाजिक और उत्तर देने वाला बना देता है और वह अपने इस आरम्भिक लाभ को सम्पूर्ण जीवन में ले जा सकता है। इसी प्रकार यह भी सम्भव

है कि दूसरे बालक के सामाजिक बनने के प्रयत्न डांट अथवा और किसी प्रकार की रोक के द्वारा हतोत्साहित कर दिए गए हों। यह उसे सदा के लिए शर्मीला और भीरु बना देता है। अतः एक ही परिवार में उग्र और शान्त, दो प्रकार के बालकों का होना यह प्रकट करता है कि अन्तर वंशानुक्रम (Heridity) के कारण नहीं है, वरन् प्रारम्भिक परिस्थितियों के कारण है। जब बालक पाठशाला में प्रवेश करता है, वह अपने साथ कुछ विशिष्ट व्यक्तिगत आचरण लाता है। वह सामाजिक अथवा शर्मीला होता है, उग्र अथवा शान्त होता है, पर अधिकतर बालकों का प्रधान चरित्र बहुत अंशों में स्थिर रहता है। वे अधिकतर उग्र अथवा शान्त, सामाजिक, अथवा शर्मीले रहते हैं, जैसे वे पहले थे। पाठशाला में हम चार प्रकार के प्रधान लक्षण वाले विद्यार्थी पाते हैं—

पहले प्रकार के बालकों की प्रमुख विशेषता पलायन (Withdrawl) होती है। व्यक्ति उग्र करने वाली परिस्थितियों से सदा पीछे हटता है और इस प्रकार वह शान्त प्रकृति वालों-से सम्बन्ध रखता है।

दूसरे प्रकार के बालक उग्र होते हैं। वे वातावरण पर आक्रमण करते हैं और उससे संघर्ष करते हैं, ऐसे बालक सदा लड़ने के इच्छुक रहते हैं, अथवा सदा तैयार रहते हैं और छोटी-सी बात पर ही उत्तेजित हो जाते हैं। सम्भवतः स्तन-पान बिछुड़ने के समय (Weaning period) उचित रूप से देख-रेख न करने से ही बालक इस प्रकार का हो जाता है। लेकिन वे अपने इस आचरण को पाठशाला में भी ले जाते हैं और वहां अपनी सामाजिक परिस्थितियों में उसका प्रदर्शन करते हैं।

तीसरे प्रकार के बालक दृढ़ अनुकूल (Conforming) प्रकार के होते हैं। वे प्रत्येक परिस्थिति के अनुकूल अपने को बना लेते हैं; अथवा वे अधिक सामाजिक होते हैं। इस प्रकार के बालकों का पालन-पोषण उचित ढंग से हुआ है।

चौथी प्रकार के बालक सचेत व्यक्ति होते हैं। वे जैसे-जैसे आगे बढ़ते हैं, अपने कदम नापते हैं। सामाजिक सम्बन्धों में ये लज्जा का प्रदर्शन करते हैं, जो प्रत्यक्ष देखने में पलायन से भिन्न नहीं होती है। लेकिन पलायनवादी (Withdrawing) सदा किसी भी परिस्थिति से अलग-अलग रहते हैं और सचेत प्रकार के व्यक्ति एक बार लज्जा के टूट जाने पर परिचित परिस्थितियों में बड़ा उत्साह दिखलाते हैं, जो पलायनवादियों में नहीं होता।

सम्भवतः कोई भी केवल एक ही प्रकार से सम्बन्ध रखने वाला नहीं कहा जा सकता, उसमें एक प्रकार प्रमुख हो सकता है, पर अन्य प्रकार के लक्षण भी छिपे रहते हैं। जब हम देखते हैं कि एक बालक अपने आचरण परिवर्तित कर देता है, तब वास्तव में बालक का प्रमुख आचरण पृष्ठभूमि में चला जाता है और गौण प्रकार जो

कि गुप्त अथवा छिपा हुआ था, सामने आ जाता है और उसका स्थान ले लेता है। वह परिवर्तन केवल एक आकस्मिक घटना के कारण हो सकता है, पर वास्तव में एक अनुभवी अध्यापक का कुशल-निर्देशन व्यक्ति में उपस्थित गौण व्यवहार के चिह्नों का पता लगा सकता है। जब व्यक्ति साधारण अवस्था में पलायन (Withdrawing) अथवा उग्रता (Aggression) प्रकट करता है। थोड़ा-सा प्रोत्साहन अथवा विश्वास की भावना उसके पलायन के अवरोधक (Barrier) को तोड़ सकती है और सम्भवतः उसकी अत्यधिक सावधानी का उपचार हो सकता है। इसके पश्चात् हम सहयोगी व्यक्ति के स्थान पर कुछ परिस्थितियों में उसे पर्याप्त सहयोगी पाएंगे। इसी प्रकार एक उग्र सहयोगी और दृढ़ वृत्ति वाले बालक के सम्मुख ऐसी स्थिति उपस्थित की जा सकती है, जिसमें उसकी उग्रता भी उसके दीर्घ प्रयत्न का साधन बन जाए; और वह इस प्रकार के कार्य करने के लिए उत्साहित किया जा सकता है; जो उसकी लड़ने की इच्छा के स्थान पर उसकी शक्ति को चुनौती दे।

बालक की सामाजिक चेतना बाल्यावस्था में बढ़ जाती है, जब वे पाठशाला अथवा अपने सामूहिक खेलों में अधिक समय अपनी अवस्था के बालकों के बीच व्यतीत करते हैं। इस परिवर्तन की प्रारम्भिक अवस्था में नेतृत्व स्थिर नहीं होता है; और मित्रता होती और टूटती रहती है। इसका कारण यह है कि बालक का व्यक्तित्व और अहंभावना सामाजिक परिस्थिति में अपनी सत्ता दृढ़ करना चाहती है और विरोधी वृत्तियों में संघर्ष होता है। धीरे-धीरे ये समूह निश्चित समुदाय अथवा वर्गों में परिवर्तित हो जाते हैं जिसमें नेतृत्व निश्चित रहता है। जबकि खेल के मैदान तथा अन्य स्वेच्छाचारी क्रियाओं में यह परिवर्तन होता है, पाठशाला की नियमित क्रियाओं में बालक अध्यापक के नेतृत्व का ज्ञान प्राप्त करता है। अध्यापक अपने इस अधिकार का प्रयोग बालक के व्यक्तित्व का उचित रीति से निर्माण करने में करता है। यदि वह अपने पृथक् रहने के स्वभाव को छोड़ देता है और अनुचित रीति से अपना महत्त्व न स्थापित करके सामूहिक खेलों तथा स्वतंत्र क्रियाओं में भाग लेता है, वह बालक के व्यक्तित्व के साधारण विकास में बाधा पहुंचाए बिना, बालकों के बीच व्यक्तित्व-सम्बन्धी अनुचित झगड़ों को टालने तथा उसे (बालक के व्यक्तित्व को) सही रास्ते से लगाने में सफल हो सकता है।

किशोरावस्था के आते ही बालक शर्मीला हो जाता है। वह अपने को अपने ही बनाए घोंघे में सीमित कर लेता है। नितान्त असामाजिक प्रवृत्ति प्रतीत हो सकती है। पर इसके मूल में भी एकाएक अपने श्रेष्ठतम रूप में दूसरों के सामने प्रकट होने की प्रवृत्ति तथा इसमें बाधा पहुंचाने वाली वास्तविकताओं के लिए व्याकुलता सामाजिक आकांक्षा की होती है। सम्भवतः बालक और बालिकाओं की इस अवस्था में उत्पन्न

नवीन रुचियां भी अपनी अपूर्णता की भावना के कारण ही होती हैं और वह अपनी शारीरिक असमर्थता को सुन्दर और आकर्षक वस्त्रों से छिपाने का प्रयत्न करता है। इस स्थिति में अध्यापक का कार्य बालक के शर्मीले स्वभाव को जीतना और स्वंतत्र सामाजिकता और सामूहिक क्रियाओं के लिए अवसर प्रदान करना तथा उसके तरंगी स्वभाव को, जो वास्वविकता से पलायन करने का परिणाम है, स्वस्थ तथा उत्पादक मार्ग में लगा देना है।

अन्तिम किशोरावस्था में उसकी समूह-प्रवृत्ति समूह-(Gang Spirit) समूह-निर्माण या भीड़ की भावना तथा बड़ों के द्वारा स्थापित निर्णयात्मक आदर्शों के उग्र विरोध में पुनः प्रकट होती है। इस समय अध्यापक का कार्य इस शक्ति को समाज-स्वीकृत सेवा के उत्पादक कार्यों की ओर उन्मुख करता है। इससे वह केवल किशोर को स्वस्थ दिशा की ओर उन्मुख तथा समायोजित करेगा, वरन् हमें परेशान करने वाली अनेक अनुशासन की समस्याओं को हटा देगा तथा समाज का भी कुछ कल्याण कर सकेगा। इन सामान्य लक्षणों के अतिरिक्त कुछ व्यक्तिगत भिन्नताएं भी हैं। एक ही परिवार के भिन्न-भिन्न सदस्यों में पाई गई भिन्नताएं यह प्रकट करती हैं कि ये अन्तर वंशानुक्रम से नहीं प्राप्त होते, वरन् प्रारम्भिक पोषण का परिणाम हैं। कुछ परिवारों की साधारण और असाधारण विशेषताएं होती हैं। मोटे रूप से कहा जा सकता है कि चार प्रकार के बालक होते हैं—पलायनवादी (Wtigdrawing), उग्र (Aggressive), दृढ़ (Conforming) और सचेत (Cantious) होते हैं। जबकि इन प्रवृत्तियों में परिवर्तन करना कठिन होता है; सौभाग्य से इन प्रमुख प्रवृत्तियों के पीछे कुछ गौण प्रवृत्तियां भी छिपी रहती हैं। अगर बालक की प्रमुख प्रवृत्ति असामाजिक है तो अध्यापक उसके उपचार के लिए ऐसी परिस्थिति की योजना कर सकता है, जिससे प्रमुख प्रवृत्ति के स्थान पर दूसरी सन्तोषजनक गौण प्रवृत्ति को सामने लाया जा सके, और प्रमुख परन्तु असामाजिक प्रवृत्ति को पीछे किया जा सके।

व्यक्तित्व का विकास

व्यक्तित्व वह विशेष गुण है जो एक व्यक्ति को अन्य व्यक्तियों से अलग करता है। हमारी दृष्टि प्रायः उन्हीं गुणों पर पड़ती है जो आकर्षक और अन्य लोगों से भिन्न होते हैं, इसीलिए हम लोगों को लम्बा अथवा नाटा, बुद्धिमान अथवा मूर्ख, अच्छा या बुरा आदि श्रेणियों में विभाजित करते हैं। दुर्भाग्यवश इन गुणों की कोई निश्चित सीमा-रेखा नहीं है—जिससे हम यह कह सकें कि कहां से वे आरम्भ होते हैं। उनकी मात्रा क्रमानुसार एक व्यक्ति से दूसरे में बदलती जाती है, और इस प्रकार हम उन्हें किसी विशेष श्रेणी में विभाजित नहीं कर सकते। यद्यपि शारीरिक गुण हमारी दृष्टि को पहले आकर्षित करते हैं फिर भी अन्त में हम मनुष्य के स्वभाव से ही अधिक आकृष्ट होते हैं। मनुष्य-स्वभाव जानने के लिए यह अधिक सरल ढंग है कि हम मनुष्यों को कुछ विशेष श्रेणियों में विभाजित कर दें और उन विभागों से व्यक्तियों को स्वभाव का पता लगाएं। इस प्रकार हम यह भी जान जाएंगे कि आम श्रेणियों से किस प्रकार के व्यवहार की आशा की जा सकती है। हिप्पोक्रेट्स (Hippocratus) नामक एक ग्रीक (400 ई॰ पू॰) से सबसे पहले संवेगात्मक स्वभाव के अनुसार मनुष्यों को निम्नलिखित चार श्रेणियों में विभाजित किया है—

(1) जो शीघ्र ही उत्तेजित होते हैं अर्थात् धैर्यहीन व्यक्ति। (Cholric Type)

(2) जो संवेगात्मक रूप से धीर और निर्जीव-से मालूम होते हैं। अर्थात् शान्त स्वभाव के व्यक्ति। (Phlegmatic Type)

(3) जो कुछ सुस्त और निराशावादी हैं अर्थात् दुःखवादी व्यक्ति। (Melancholic)

(4) जो कर्मशील परन्तु असहिष्णु होते हैं अर्थात् शीघ्रगामी व्यक्ति। (Sangnine)

हिप्पोक्रेटस के कथनानुसार व्यक्तित्व की ये चार श्रेणियां हमारे अन्दर कुछ विशेष रसों के कारण उत्पन्न होती हैं, क्योंकि ये रस हमारे रक्त में मिल जाते हैं। इस प्रकार हिप्पोक्रेटस ने वही सिद्ध किया जो बहुत दिन बाद कुछ जीव-वैज्ञानिकों ने कहा कि यकृत (Liver) से नहीं बल्कि ग्रन्थियों से निकलकर रस हमारे संवेग पर प्रभाव डालता है। हिप्पोक्रेटस के कथनानुसार एक साधारण मनुष्य में ये चारों रस बराबर मात्रा में रहते हैं।

हिप्पोक्रेटस के 23 शताब्दी बाद सन् 1911 में विलियम जेम्स ने मनुष्य के स्वभाव को दो श्रेणियों में विभाजित करने का प्रयत्न किया एक आदर्शवादी और दूसरे प्रयोगवादी। आदर्शवादी कुछ सिद्धान्त लेकर चलते हैं तथा आवश्यकतानुसार सुविधा के लिए सिद्धान्त को छोड़ भी सकते हैं। सन् 1927 में युंग (Jung) ने भी दो विभाजन किए थे, लेकिन उनका आधार भिन्न था। उन्होंने समस्त व्यक्तियों को बहिर्मुखी और अन्तर्मुखी दो श्रेणियों में रखा। बहिर्मुखी व्यक्ति बाह्य संसार में अपने आदर्शों का आधार ढूंढ़ता है अतः उसका दृष्टिकोण अधिक व्यावहारिक होगा, और वह स्वयं भी अधिक सामाजिक व्यक्ति होगा। इसके विपरीत अन्तर्मुखी व्यक्ति अपने अन्दर ही अपने आदर्शों का महल खड़ा करता है, अतः वह अधिक सिद्धान्तवादी और आत्मकेन्द्रित तथा स्वल्पभाषी होगा।

इस प्रकार दो वर्गीकरण करने पर फिर हमारे सामने वही कठिनाई उपस्थित होती है कि इन दो भागों में ठीक से सब व्यक्तियों को नहीं रखा जा सकता है। आलपोर्ट ने इसलिए कुछ चारित्रिक गुणों की खोज की। इन गुणों का होना आवश्यक है, और उनके द्वारा हम उचित रूप से उनको माप कर यह कह सकते हैं कि किस व्यक्ति में कौन-से गुण अधिक हैं। इस प्रकार किसी व्यक्ति-विशेष के व्यक्तित्व का भी पता लग सकता है। आलपोर्ट के चारित्रिक गुण का सिद्धान्त सर्वप्रथम सन् 1924 ई. में प्रकाशित हुआ। ठीक से विभाजन करने के लिए उसने प्रत्येक गुण को कई उपगुणों में भी विभाजित किया है। उसके प्रमुख पांच गुण हैं—बुद्धि (Intelligence), गतिशीलता (Mobility), स्वभाव (Temperemant), आत्म-प्रकाशन (Self expression) और सामाजिकता (Sociability)।

1. बुद्धि का परिचय निम्न उपगुणों से मिलता है—
   (क) किसी कठिनाई का सामना करके उसे दूर करने की शक्ति।
   (ख) स्मरण-शक्ति जो शिक्षा से बहुत अधिक सम्बन्ध रखती है।
   (ग) दो वस्तुओं में पारस्परिक सम्बन्ध देखने की शक्ति।
   (घ) रचनात्मक कल्पना-शक्ति।
   (ङ) निर्णय की विचार-शक्ति।
   (च) नवीन परिस्थितियों से समायोजन करने की शक्ति।
2. गतिशीलता को ही हम चार वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—
   (अ) कार्य करने की क्षमता।
   (ब) कार्य करने की रीति।
   (स) अध्यवसाय की क्षमता।
   (द) सामान चालक शक्ति।

3. स्वभाव का परिचय पांच प्रकार से मिल सकता है–
   (क) संवेगात्मक रूप से व्यक्ति कितना दृढ़ है।
   (ख) वह अपने संवेग-क्षेत्र में उदार है अथवा संकीर्ण है।
   (ग) अपने संवेगों को नियंत्रित करने की शक्ति।
   (घ) उसकी मनोवृत्ति क्या है।
   (ङ) अन्य व्यक्तियों के प्रति उसका आचरण।
4. आत्म-प्रकाशन निम्नलिखित पांच वर्गों में विभाजित किया जा सकता है–
   (अ) किसी कार्य को प्रारम्भ करने की शक्ति।
   (ब) अन्तर्दृष्टि।
   (स) क्षतिपूर्ति की शक्ति अर्थात् किसी क्षति को वहन करने की शक्ति।
   (द) बहिर्मुखी अथवा अन्तर्मुखी शक्ति।
   (य) उग्रता अथवा विनयशीलता।
5. सामाजिकता का निर्णय निम्नलिखित उपगुणों से हो सकता है–
   (क) सामाजिक समायोजन।
   (ख) सामाजिक जीवन में भाग लेने की शक्ति।
   (ग) वह व्यक्ति आत्मकेन्द्रित है अथवा निस्वार्थी।
   (घ) चरित्र।

इस प्रकार आलपोर्ट ने मनुष्य की प्रवृत्ति को 24 गुणों में विभाजित किया है। प्रश्न यह आता है कि क्या मानवी प्रकृति के समस्त गुणों का परिचय हमें इससे मिल जाता है। इस पर लोगों का मतभेद है। लेकिन इनकी ठीक-ठीक माप करना कठिन है। इन गुणों का ठीक विचार करने के लिए उचित मान अथवा आदर्श होना चाहिए। इन आदर्शों का निर्णय प्रत्येक व्यक्ति मनमाने ढंग से करेगा, और एक व्यक्ति कहां तक आदर्शों के अनुरूप है अथवा नहीं इसका विचार भी विचारिक अथवा निरीक्षक अपने ढंग से करेगा। इसलिए आलपोर्ट के व्यक्तित्व-निर्णय के सिद्धान्त पर हम आज इतना विश्वास नहीं कर सकते, जितना एक समय से किया जाता था।

व्यक्तित्व-निर्णय के सिद्धान्त

हमारा शारीरिक संगठन कुछ सीमा तक हमारे व्यक्तित्व का भी निर्णय करता है। जीव-वैज्ञानिकों ने अपने दृष्टिकोण से व्यक्तित्व पर विचार किया हैं। अर्नेस्ट क्रेटशेमर (Ernest kretschmer) ने शारीरिक गठन के अनुसार मनुष्य को तीन भागों में विभाजित किया है–

(क) छोटे और मोटे शरीर के व्यक्ति जिन्हें उन्होंने पिकनिक (Pyknic) कहा है।

(ख) दीर्घकाय और दुबले शरीर के व्यक्ति जिनको एस्थेनिक (Asthenick) कहा है।

(ग) पेशीयुक्त तथा संगठित शरीर वाले व्यक्ति जिन्हें व्यायामकारी (Athelates) का नाम दिया है।

क्रेटशेमर इस बात से बहुत अधिक आश्चर्यचकित हुए कि उन्माद (Manice) प्रायः छोटे और मोटे व्यक्तियों को, तथा शिजोफ्रानिया (Schizophranea) प्रायः दीर्घकाय (Asthenic) और व्यायामकारी (Athelates) दोनों प्रकार के व्यक्तियों को होता है। उन्होंने यह भी देखा कि दीर्घकाय व्यक्तियों को यदि शिजोफ्रानिया न हो तब वे प्रायः शर्मीले और गम्भीर प्रकृति के अन्तर्मुखी व्यक्ति होते हैं। क्रेटशेमर में एक बड़ा दोष यह था कि उन्होंने जो नियम बनाया वह बहुत कम क्षेत्रों को देखकर बनाया, अतः इसमें व्यक्तिक्रम बहुत मिलते हैं। इसके अतिरिक्त अधिकांश स्वाभाविक व्यक्ति भी या तो छोटे और मोटे अथवा लम्बे और दुबले या फिर पेशीयुक्त संगठित शरीर के होंगे। इन सबमें उन्माद-प्रवृत्ति सुप्त अवस्था में है, यह कहना ठीक नहीं होगा।

सन् 1928 में गिलबर्ट (Gilbert) ने संवेगात्मक चंचलता को नापने के लिए मूत्र, लार अथवा स्वेद में कितना क्षार (Alkali) निकलता है उसे नापा। इनके अनुसार जिस व्यक्ति में अधिक क्षार निकलता है वह शीघ्र ही उत्तेजित भी होता है। लेकिन इस नियम में भी बहुत व्यक्तिक्रम पाए जाते हैं। एक व्यक्ति के शरीर से निकलने वाले क्षार के अनुसार हम उसका चरित्र-निर्णय नहीं कर सकते। लुइस बर्मन (Louis Berman) ने मलविहीन ग्रन्थियों (Ductless glands) से जो उत्तेजक रस निकलता है; उसके अनुसार व्यक्ति का निर्णय किया। इनका कहना है कि यदि आड्रिनल (Adrinal) ग्रन्थियों से अधिक रस निकलता है तो वह व्यक्ति अधिक कार्यशील होगा और कम रस निकलने पर वह चिड़चिड़े और अस्थिर स्वभाव का होगा। पिट्यूटरी (Pitutary) ग्रन्थियों के विषय में यह देखना पड़ेगा कि किन कर्णपालियों (Lobes) से रस निकलता है। यदि सामने की कर्णपाली से रस निकलता है तो व्यक्ति पुरुष-प्रकृति-प्रधान तथा पीछे की कर्णपाली से रस निकलता है तो स्त्री-प्रवृत्ति-प्रधान होगा। यदि थायराइड (Thyroid) ग्रन्थि से अधिक रस निकलता है तो यह व्यक्ति अधिक क्रार्यशील और कम निकलने पर जड़-बुद्धि होगा। इस प्रकार ग्रन्थियों से निकलने वाले रस न केवल हमारे शारीरिक संगठन पर ही प्रभाव डालते हैं बल्कि हमारी प्रकृति या स्वभाव का भी निर्णय करते हैं। रास (Ross); स्टॉग्रेर (Stagner) और किनबाल युंग, (Kinball young) ने बर्मन के

सिद्धान्त को सन्देह की दृष्टि से देखा है। इन लोगों का कहना है कि उत्तेजक रस के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान इतना अधिक नहीं है कि हम ठीक से प्रकृति-निर्णय कर सकें। इससे यह स्पष्ट होता है कि केवल शारीरिक संगठन अथवा जीव-विज्ञान के आधार पर हम व्यक्तित्व का निर्णय नहीं कर सकते। यद्यपि यह निश्चित है कि मनुष्य का शारीरिक संगठन ही हमें केवल पहले ही आकर्षित करता है लेकिन दूसरी ओर यह भी सत्य है कि मनुष्य के शारीरिक संगठन और व्यवहार में कुछ सम्बन्ध है। आलफ्रेड एडलर शारीरिक संगठन और प्रकृति में सम्बन्ध देखकर आश्चर्यचकित हो गए थे। उन्होंने देखा कि शारीरिक रूप से दोषयुक्त जैसे लंगड़े, लूले, विकृत या भद्दे व्यक्तियों का स्वभाव अधिक उग्र होता है और वे अधिक अपराधी प्रवृत्ति के होते हैं। एडलर ने इस पर विचार किया कि उनके स्वभाव का कारण सामाजिक है या शारीरिक। उनका कहना है कि इन व्यक्तियों का व्यवहार उनके अन्दर उपस्थित हीन-भावना (Inferiority Complex) के कारण इस प्रकार का होता है और वे अपने व्यवहार द्वारा अपने अन्दर की कमी की पूर्ति करने का प्रयास करते हैं। कभी-कभी ये कारण काल्पनिक भी हो सकते हैं। आडलर के कथनानुसार यदि प्रत्येक व्यक्ति दोष-युक्त हो तब किसी भी व्यक्ति के अन्दर हीन-भावना नहीं होगी। क्योंकि सबमें समानता न होने का उदय होता है, और उसी के फलस्वरूप वे इस प्रकार का व्यवहार करते हैं। इस प्रकार शारीरिक संगठन अप्रत्यक्ष रूप से हमारे ऊपर जो प्रभाव डालता है, वह वास्तव में सामाजिक है।

व्यक्तित्व-सम्बन्धी फ्रायड के विचार

फ्रायड ने विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों का निर्देश करने के लिए कोई नवीन ढंग की खोज नहीं की है, बल्कि जिन शक्तियों के प्रभाव से व्यक्ति के अन्दर विशेष प्रकार की प्रवृत्तियों का जन्म होता है, उनका विश्लेषण किया है और समयानुसार उनका परिवर्तन दिखलाया है। फ्रायड के कथनानुसार हमारे अन्दर शक्ति का केन्द्र लिबिडो (Libido) है, यह लैंगिक है और हमारे अन्दर पशु-प्रवृत्ति अर्थात् इड को (Id) नियंत्रित करता है। इड के अतिरिक्त हमारे अन्दर विवेचन-शक्ति अर्थात् अहं और नैतिक-शक्ति अर्थात् विवेक होता है। केवल अहं ही हमारे अन्दर इड को नियंत्रित करके अवांछित संवेगों को रोक सकता है, और इस प्रकार वह अचेतन मस्तिष्क में चला जाता है। लेकिन अहं में आत्मस्वार्थ अधिक प्रबल होता है, अतः सदैव यह आवश्यक नहीं है कि वह वांछित और न्यायमुक्त हो। हमारी नैतिक सत्ता अर्थात् हमारा विवेक एक पुलिस की भांति हमारे अहं (Ego) और इड (Id) की अवांछनीय प्रवृत्तियों का दमन करता रहता है, हमारे इड और विवेक का नित्य संघर्ष

होता रहता है, परन्तु विवेक स्वयं इड की पाशविक प्रवृत्तियों को रोकने में असमर्थ होता है, अतः इसे अहं की सहायता लेनी पड़ती है। फ्रायड के अनुसार एक साधारण मनुष्य इन संघर्षों को ठीक प्रकार से सुलझा लेता है, किन्तु असामान्य व्यक्ति इस संघर्ष में समायोजन करने में असमर्थ सिद्ध होते हैं। फ्रायड ने अवस्था के अनुसार भी व्यक्तित्व के विकास पर प्रकाश डाला है। एक नवजात शिशु का लिबिडो अपने शरीर से ही सम्बन्ध रखता है अतः वह आत्मकेन्द्रित होता है। सर्वप्रथम उसका बाहरी सम्बन्ध मात्त्र से होता है, और यदि माता-पुत्र का सम्बन्ध उचित रूप से न हो और उसका समायोजन न हो सके, तब उसका बुरा प्रभाव पड़ता है और कभी-कभी असाधारण बातें उत्पन्न हो जाती हैं। कभी-कभी बालकों को माता के प्रति और बालिकाओं का पिता के प्रति संवेगात्मक आकर्षण होता है। आयु की वृद्धि के साथ लिबिडो अन्य व्यक्तियों के प्रति भी आकर्षित होता है। पहले यह समलैंगिक रहता है और बाद में भिन्न लैंगिक आकर्षण के रूप में बदल जाता है, यद्यपि इसमें बाल्यावस्था का प्रभाव भी होता है। फ्रायड के अनुसार भी समाज द्वारा स्वीकृत जिस नैतिक और सामाजिक व्यवहार की हमसे आशा की जाती है, वह प्रायः हमारे लिबिडो की स्वतंत्र कार्यप्रणाली के प्रतिकूल होगा। इस प्रकार इड और विवेक में संघर्ष उत्पन्न होगा। जब हमारा अहं इन कार्यों के करने में असमर्थ सिद्ध होता है तभी अस्वाभाविक व्यवहार पाया जाता है।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में जब फ्रायड का सिद्धान्त प्रकाशित हुआ तब एक आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। कुछ लोगों का मत है कि फ्रायड ने हमारे मनोवैज्ञानिक क्षेत्र में एक नवीन क्रान्ति का प्रादुर्भाव किया; जब कि अन्य लोग उनके द्वारा प्रतिष्ठित सिद्धान्तों को ही संदेह की दृष्टि से देखते हैं। टरमैन (Terman) के अनुभवों के अनुसार माता पुत्र का सम्बन्ध कवेल बालकों तक ही नहीं सीमित है, बल्कि बालिकाओं में भी प्रायः यह देखा जाता है कि वे पिता की अपेक्षा अपनी माता के प्रति अधिक आकर्षित होती हैं। अतः यह आकर्षण लैंगिक न होकर सामाजिक है।

पूर्वी देशों में फ्रायड के इस सिद्धान्त के लिए एक विशाल क्षेत्र है जहां हम उसकी परीक्षा कर सकते हैं। यहां अधिकतर सब लोग सम्मिलित परिवारों में रहते हैं। इन परिवारों में अन्य सदस्यों के होने के कारण माता का स्थान उतना महत्त्वपूर्ण नहीं होता, जितना पाश्चात्य देशों में, जिनमें माता-पिता और बच्चों के अतिरिक्त और कोई नहीं होता। पश्चिमी देशों में स्तन-पान बिछुड़ने के बाद प्रायः बच्चों के अतिरिक्त और कोई नहीं होता। पूर्वी देशों में स्तन-पान बिछुड़ने के बाद प्रायः बच्चों का लालन-पालन पितामही पर छोड़ दिया जाता है; अतः यह देखना आवश्यक है

कि बच्चे का आकर्षण किसके प्रति अधिक होगा—माता अथवा अन्य महिला जिसने धात्री का काम किया हो।

सामाजिक प्रभाव

केवल एडलर को छोड़कर अन्य समस्त जीव-वैज्ञानिकों के सिद्धान्त पर विचार करते समय हमने बच्चे का एक अलग अस्तित्व माना था। फ्रायड के सिद्धान्तों का विश्लेषण करते समय बच्चों के व्यवहार और उनकी संवेगात्मक प्रवृत्ति में माता-पिता का भी पर्याप्त प्रभाव देखा गया है। लेकिन एक व्यक्ति को अपने माता-पिता के अतिरिक्त एक विशाल समाज का भी सामना करना पड़ता है, जो उससे एक निश्चित व्यवहार की आशा करता है और इस प्रकार उसे समायोजन करने को बाध्य करता है। सर्वप्रथम एच॰ कुली (H. Cooley) ने समाज के महत्त्व की ओर ध्यान आकर्षित किया। जिसमें न केवल माता-पिता, भाई-बहन आदि हैं, बल्कि खेल के साथी और अन्य व्यक्ति भी सम्मिलित होते हैं, जिनका प्रभाव व्यक्ति के विकास में देखा जाता है। कुछ लोगों ने इस पर ध्यान दिया था, लेकिन अभी तक इस पर ठीक खोज नहीं हुई थी। सम्भवतः पारिवारिक प्रभावों से अलग करके इस पर निश्चित विचार करना कठिन है। हमारे व्यक्तित्व और संवेगात्मक जीवन पर बाह्य समाज का कितना प्रभाव है इसका प्रमाण हमें तब मिलता है जब व्यक्ति एक वातावरण छोड़कर दूसरे वातावरण में प्रवेश करता है। अर्थात् जब वह एक समाज छोड़कर दूसरे का सदस्य बन जाता है, जिसकी संस्कृति बिल्कुल भिन्न है और जहां पर उसमें बिल्कुल भिन्न प्रकार के व्यवहार की आशा की जाती है। विलियम थामस (William thomas) और फ्लोरियन जेनानिकी (Florian znaniecki) ने कुछ पोलैण्ड के परिवारों का अध्ययन किया जो वहां से आकर अमेरिका में बस गए थे। उन्होंने देखा कि समाज-परिवर्तन से उनके सामाजिक संगठन और व्यक्तित्व में भी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। अभी हाल में दो विशाल समूहों का वातावरण-परिवर्तन देखा गया। एक-पूर्वी और पश्चिम पाकिस्तान से भारतवर्ष के विभिन्न भागों में हिन्दू और सिख परिवारों का आना, दूसरी-हंगरी (Hungary) के बहुत से परिवारों का संयुक्त राष्ट्र अमेरिका, कनाडा और पश्चिम यूरोप के कई देशों में जाना। लेकिन भारतवर्ष में अभी तक इस पर कोई निश्चित अनुसन्धान नहीं हो पाया है। हंगरी में यह देखा गया कि इस प्रकार बाध्य होकर स्थान-परिवर्तन करने से तीन प्रकार की शक्तियों ने अपना प्रभाव दिखाया। एक पुराने वातावरण का प्रभाव, दूसरा नए वातावरण का प्रभाव और तीसरा जिस अवस्था में वातावरण का परिवर्तन हुआ, उनका प्रभाव। इन तीनों शक्तियों के प्रभाव से व्यक्ति कभी भयभीत और नम्र हो गए हैं,

तथा कभी अपनी असहाय अवस्था के कारण चिन्ता करते हुए अधिक उग्र और विद्रोह स्वभाव के हो गए हैं।

एक स्थान पर रहने वाले एक साधारण मनुष्य पर संस्कृति का क्या प्रभाव पड़ता है और स्थान-परिवर्तन से उसका व्यवहार किस प्रकार बदलता है, इसका भी अध्ययन किया गया है। यदि उसका व्यवहार साधारण है तो यह उसकी संस्कृति का ही प्रभाव है। जहां पर संस्कृति अधिक प्रभावपूर्ण और निर्देशात्मक है वहां पर लोग साधारणतः कुछ नम्र और भयशील बन जाते हैं। वे अपने सामाजिक और जातीय नियमों का पालन करते हैं तथा उनमें किसी भी प्रकार का विरोध करने या अपनी इच्छानुसार कार्य करने की शक्ति नहीं होती है। इस प्रकार उनकी व्यक्तिगत भिन्नता दूर हो जाती है और उस समाज के सभी सदस्यों का व्यवहार प्रायः एक-सा होता है। बेनेडिक्ट (Benedict) ने न्यू मैक्सिको के जूनी इण्डियन और मार्गरेट मीड (Margaret Mead) ने न्यू गिनी (New Guinea) के टचाम्बुली (Tchambuli) निवासियों में यह देखा कि वहां की सामाजिक प्रथा के अनुसार पुरुष स्त्रियों से दबकर रहते हैं। भारतवर्ष के उत्तर प्रदेश में हिमालय तराई में थारु (Trharu) के निवासियों में भी यही प्रथा पाई जाती है।

पाश्चात्य देशों में अपराधी बालकों पर विचार करते समय यह देखा गया कि पारिवारिक शिक्षा के अभाव में बालक अपराधी हो जाते हैं, न कि सामाजिक प्रथाओं के कारण। सिरिलबर्ट (Cyril Burt) और इच हार्न (Eich horn) ने इस बात की खोज की कि इंग्लैंड और आस्ट्रेलिया के बाल-अपराधी प्रायः उन परिवारों से आए हैं जहां माता-पिता का पारस्परिक सम्बन्ध बिगड़ा हुआ है और परिवार विच्छिन्न हैं। इन बच्चों के व्यक्तित्व पर उनके माता-पिता के पारस्परिक सम्बन्ध का प्रभाव पड़ा है। यदि माता-पिता में प्रायः झगड़ा होता हो तो बच्चे अपने को सुरक्षित नहीं अनुभव करते और उसी के फलस्वरूप वे कुछ अस्वाभाविक और असामाजिक बन जाते हैं। इस क्षेत्र में केवल उन्हीं परिवारों के बच्चों का अध्ययन हुआ जिनमें माता-पिता और उनके बच्चे ही थे। एक बड़े सम्मिलित परिवार में जहां इनके अतिरिक्त अन्य सदस्य भी हों, बच्चों पर इसका क्या प्रभाव पड़ेगा यह भी विचार करने योग्य है। इस सम्बन्ध से लखनऊ जेल के कैदियों पर अध्ययन किया गया है, लेकिन इसमें बिगड़े हुए घर से अपराधियों की संख्या अधिक नहीं थी। लखनऊ और कानपुर दोनों जगहों के 300 अपराधियों की पारिवारिक परिस्थितियों के विषय में अध्ययन करते समय यह देखा गया कि उनमें से 172 बच्चे ऐसे परिवारों से आए हैं जिनको हम साधारण कह सकते हैं, और केवल 128 बच्चे ऐसे परिवारों से आए हैं, जिनके घर बिगड़े हुए हैं। इनकी संख्या से भी अधिक बड़े व्यक्तियों में 80 प्रतिशत अपराधी ऐसे हैं जिनके घर की

परिस्थिति साधारण है, अर्थात् वे अपने सम्प्रदाय के नियमों का पालन करते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि कुछ ऐसे वर्ग हैं जहां अनुशासन का पालन करते हुए भी अपराध किए जाते हैं और यही अपराध का कारण है, पारिवारिक सुरक्षा का अभाव उसका कारण नहीं है। यह भी सम्भव है जिसे हम अपराध कहते हैं वह उनके वर्ग में अपराध न माना जाता हो। अतः इनके वर्ग का अनुशासन विशाल समाज के अनुशासन से भिन्न हो सकता है; और इस प्रकार अपने वर्ग के अनुशासन का पालन करते हुए भी ये लोग विशाल समाज के सामने अपराधी सिद्ध हो सकते हैं। भारतवर्ष में कुछ जातियों को अपराधी गिना जाता है तथा योरुप की गिप्सी (Gypsies) जाति भी इसी श्रेणी में आती है। इसके अपने निर्दिष्ट नैतिक आदर्श हैं, लेकिन विशाल समाज के सामने उनकी गणना अपराधी में होती है। अपने वर्ग में हम सब लोगों का व्यवहार प्रायः एक-सा है, अतः इससे यह स्पष्ट है कि इनके वर्ग की संस्कृति-विशेष ही इनके व्यक्तित्व-निर्माण के लिए उत्तरदायी है। इनके वर्गगत आदर्शों और विशाल समाज के नैतिक आदर्शों में भेद है।

बच्चों के व्यक्तित्व-निर्माण में स्कूल का सामाजिक वातावरण भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है, यद्यपि घर और आस-पास के सामाजिक वातावरण की तुलना में इसका महत्त्व कम है। लेकिन हम इसकी एकदम उपेक्षा नहीं कर सकते। शिक्षा बच्चों की मनोवृत्ति पर प्रभाव डालती है और यह देखा गया है कि विद्यालय के विद्यार्थी का सामाजिक तथा नैतिक दृष्टिकोण अधिक उदार होता है। हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि किशोरावस्था में बालकों में वीर पूजा (Hero worship) की भावना अधिक प्रबल होती है। अतः इस समय एक आदर्श शिक्षक अपने व्यक्तिगत उदाहरण द्वारा उनकी विचारधारा बदलकर उनके व्यक्तित्व की उन्नति कर सकता है। जिस बच्चे को शिक्षा एक अच्छे स्कूल में मिली है तथा एक-दूसरे बच्चे को, जिसको अच्छे स्कूल में नहीं मिली है, तुलना करके देखने पर दोनों के व्यवहार में महान अन्तर देखा जा सकता है। चरित्रगठन में भी हम स्कूल का प्रभाव देख सकते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे व्यक्तित्व-निर्माण में चाहे शरीर-विज्ञान (Biological) चाहे लिबिडो (Libido) कोई भी अधिक महत्त्वपूर्ण हो, पर सामाजिक परिस्थिति का प्रभाव भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है, और हमारा व्यवहार बहुत कुछ इसी के द्वारा निश्चित होता है।

व्यक्तित्व का मूल्यांकन

व्यक्तित्व का विकास किस प्रकार होता है और उसमें व्यक्ति के शारीरिक संगठन, उसका प्रारम्भिक पालन-पोषण जिसको फ्रायड ने अधिक महत्त्व दिया है

और विशाल समाज का उस पर प्रभाव आदि की चर्चा करने के बाद हम व्यक्तित्व के मूल्यांकन की समस्या पर विचार करेंगे।

हम आलपोर्ट की निर्णय-प्रणाली को देख चुके हैं कि इससे कार्य कुछ सरल अवश्य हो जाता है, लेकिन इस पर पूर्णरूप से विश्वास करके इन आदर्शों के आधार पर ठीक-ठीक मूल्यांकन करना अनुभव का काम है और एक साधारण विचारक के निर्णय पर पूर्ण विश्वास नहीं किया जा सकता। लेकिन केवल कठिन होने के कारण हम इस कार्य की उपेक्षा नहीं कर सकते। व्यक्तित्व का मूल्यांकन एक अति आवश्यक विषय है, क्योंकि जब हम किसी कार्य के लिए व्यक्ति का निर्वाचन करते हैं, तब न केवल उसकी योग्यता बल्कि उसके व्यवहार का भी ज्ञान होना आवश्यक है। यह तभी सम्भव है जब हम उसके व्यक्तित्व का ठीक मूल्यांकन करेंगे।

मूल्यांकन की सबसे सरल विधि साक्षात् परिचय (Interview) है, और प्रायः यही विधि प्रयोग में लाई जाती है। इसमें हम किसी व्यक्ति की साधारण आकृति, उसका शरीर-संचालन (gesture) और स्वर आदि के साथ—भाव-प्रकाशन की अन्य विधियों का भी पता लगा सकते हैं। उससे प्रश्न पूछकर उसके ज्ञान का अनुमान लगाया जा सकता है तथा साक्षात् परिचय के समय उसका व्यवहार किस प्रकार का है आदि गुणों का मूल्यांकन हम एक ही परीक्षा द्वारा कर सकते हैं। लेकिन इसमें यह कठिनाई है कि एक ही समय हम इतने अधिक गुणों की खोज करते हैं कि उनमें से कौन-सा गुण अधिक महत्त्वपूर्ण है, यह पता लगाना कठिन है। जैसा कि हम पहले भी देख चुके हैं, निर्णायकों में मतभेद होता है क्योंकि प्रत्येक के आदर्श भिन्न होते हैं। इसके अतिरिक्त साक्षात् परिचय की स्थिति एक कृत्रिम अवस्था है जिसके आधार पर भविष्य का विचार करना प्रायः ठीक नहीं। कुछ लोगों का ऐसा विचार है कि जिन लोगों ने उन्हें कुछ समय पूर्व से देखा है उनका मत लिया जाए तब निर्णय ठीक होगा। लेकिन इस प्रकार के व्यक्तिगत विचारों में सबसे बड़ा दोष यह देखा गया है कि निर्णय करने वाले की व्यक्तिगत् धारणाओं के कारण पक्षपात् की आशंका रहती है। स्वयं मूल्यांकन (Self rating) का आविष्कार फ्रेड (Freyed), हिड ब्रेडर, आलपोर्ट और वुडवर्थ ने किया, लेकिन बर्नरयूट ने बहुमुखी सिद्धान्त का अन्वेषण किया जिसमें एक व्यक्ति स्वयं ही अपने व्यक्तित्व का पता लगाकर अपना मूल्यांकन कर सकता है और इस प्रकार अपना स्थान, श्रेणी विभाजन द्वारा निश्चित कर सकता है। इसमें बड़ी कठिनाई यह कि है श्रेणी विभाजन कुछ मनमाने ढंग से किया गया है और यह कहना कठिन है कि वे जिन गुणों का मूल्यांकन कर रहे हैं वास्तव में उनके गुण हैं या नहीं। इसके अतिरिक्त यह भी निश्चित नहीं कि विषय (Subject) जो उत्तर देगा वह साधारण परिस्थिति की भांति देगा या नहीं। साथ ही प्रश्नावली के

ढंग से वह यह जान जाता है कि किस प्रकार के उत्तर देने से उसको ऊंची श्रेणी में स्थान मिलेगा और उसी प्रकार के उत्तर देने का प्रयास करेगा, जो उसके वास्तविक उत्तर नहीं होंगे। स्ट्रांग (Strong) और कुडर (Kuder) की रुचिमापक प्रश्नावली (Interest Test) में भी ऐसा ही होता है।

हम पहले देख चुके हैं कि शारीरिक संगठन से चरित्र का मूल्यांकन सदा ठीक नहीं हो सकता, और इसी प्रकार किसी व्यक्ति का फोटो देखकर हम उसके व्यवहार का ठीक मूल्यांकन नहीं कर सकते। यह देखा गया है कि जब कहीं विचारक केवल फोटो देखकर मूल्यांकन करते हैं तब उनके मूल्यांकन, और जिन लोगों का मूल्यांकन किया गया है उनके वास्तविक परीक्षाफल में बहुत अधिक अन्तर देखा गया है। यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि फोटो के समय व्यक्ति का जो आकार था, वह उसका वास्तविक आकार न हो। इसी प्रकार कंठ-स्वर और हस्त-लेखन से भी किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व का उचित मूल्यांकन नहीं किया जा सकता।

कुछ व्यवहारवादियों का यह विचार है कि यदि हम एक व्यक्ति का व्यवहार बहुत समय तक देखें तो हम उसके विषय में बहुत-से आवश्यक तत्त्वों का पता लगा सकते हैं। लेकिन इसमें भी वही कठिनाई है कि हम इतने अधिक समय तक किसी के व्यवहार का निरीक्षण नहीं कर सकते कि जिस पर हम पूर्ण विश्वास कर सकें। साधारणतः जिनकी परीक्षा ली जाती है उनको कुछ काम करने को दिया जाता है या परीक्षा के समय उनका व्यवहार देखा जाता है। लेकिन यह परिस्थिति कृत्रिम होती है। फर्न लैंड (Fern Land) ने सहनशीलता की परीक्षा इस प्रकार ली कि एक व्यक्ति अपनी एड़ी उठाकर कितने समय तक पंजों के बल खड़ा रह सकता है। मैक डूगल (Mc Daugall) और सुस्टर (Schuster) ने एक गोले की गति को क्रमशः बढ़ाते हुए यह देखा कि एक व्यक्ति उसमें कितने अधिक बिन्दु डाल सकता है। लेकिन उससे जीवन की समस्त परिस्थितियों का पता नहीं चल सकता है। उसी प्रकार बिने (Binet) और वेशलर (Wechsler) के परीक्षाफल द्वारा भी हम यह नहीं कह सकते कि उसकी संवेगात्मक स्थिति क्या है, और उस पर कहां तक विश्वास किया जाता है।

प्रक्षेपन विधियां जैसे युंग (Jung) या केन्ट (Kent), रोशानाफ (Rosanoff) की साहचर्य-परीक्षा (Association Test) अथवा टी॰ ए॰ टी॰ (T. A.T.), सी॰ ए॰ टी॰ (C.A.T) या रोसचाश (Rouschach) अपनी परीक्षा में परीक्षार्थी से ऐसे असमय में प्रश्न पूछते हैं कि विषय (Subject) अपने सम्बन्ध में बहुत-सी आवश्यक सूचनाएं दे देता है। परन्तु इसका विश्लेषण करते समय उस परीक्षक के अपने व्यक्तित्व का प्रभाव भी पड़ सकता है और इस प्रकार उससे भूल हो सकती

है। इसके अतिरिक्त साहचर्य-परीक्षा अथवा टी॰ ए॰ टी॰ या सी॰ ए॰ टी॰ परीक्षाएं कभी सांस्कृतिक प्रभावों से मुक्त नहीं होती हैं।

व्यक्ति क्या है और किन गुणों के कारण एक व्यक्ति दूसरों से भिन्न होता है, इसकी खोज मानव-समाज बहुत दिनों से कर रहा है। शारीरिक संगठन सर्वप्रथम हमारी दृष्टि को आकर्षित करता है, अतः सबसे पहले इसी पर हमारी दृष्टि पड़ी। लेकिन हम देखते हैं कि ग्रीक सभ्यता के काल से ही हमारी दृष्टि मुग्ध के संवेगात्मक जीवन पर पड़ चुकी थी और उस समय जो विचार किया गया वह वर्तमान काल के ग्रंथि से निकलने वाले उत्तेजक रस की सिद्धान्त से बहुत कुछ मिलता है; लेकिन वर्तमान काल में हमारा सीमित ज्ञान इस पर पूर्णरूप से विचार करने में असमर्थ है। फिर भी क्रेटशेमर ने शारीरिक गठन के साथ मनुष्य के व्यक्तित्व का जो सम्बन्ध जोड़ा वह भ्रमपूर्ण है, क्योंकि केवल शारीरिक-संगठन से हम मनुष्य के मानसिक गुणों का अनुमान नहीं लगा सकते। एडलर (Adler) द्वारा प्रतिपादित यह सिद्धान्त कि शारीरिक संगठन और उस पर सामाजिक प्रभाव कभी-कभी हीनता या गर्व की भावना उत्पन्न करने का कारण सिद्ध होते हैं और इस प्रकार कुछ अंश तक व्यक्तित्व बनाने में समर्थ होते हैं।

दूसरी ध्यान देने की बात यह है कि व्यक्तित्व का विकास किस प्रकार होता है, क्योंकि यदि हमें इस बात का पूर्ण ज्ञान होगा तब हम इस प्रकार की परिस्थितियों का निर्माण करेंगे जिनमें बच्चे का पूर्ण ज्ञान होगा, तब हम इस प्रकार की परिस्थितियों का निर्माण करेंगे जिनमें बच्चे का पूर्ण विकास हो सके। फ्रायड ने इड, अहं और विवेक पर लिबिडो (Libido) का प्रभाव देखते हुए यह कहा कि शैशव-काल में माता-पिता के साथ बच्चे का जो सम्बन्ध होता है वही उसके व्यक्तित्व का निर्माण करता है। लेकिन फ्रायड ने अधिकतर उन्हीं परिवारों के बच्चों का अध्ययन किया है जिनमें माता-पिता और बच्चों के अतिरिक्त अन्य सदस्य नहीं होते और इसी के आधार पर उसने अपने सिद्धान्त का निर्माण किया है। पूर्वी देशों में हमारे यहां परिवार में अन्य सदस्य भी होते हैं जो बच्चे के व्यक्तित्व-निर्माण में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। विशाल समाज में रहने वाले बच्चे का व्यक्तित्व किस प्रकार उससे प्रभावित होता है, इस पर भी विचार करना आवश्यक है। समाज के सांस्कृतिक और सामाजिक जीवन का बच्चे के व्यक्तित्व पर बहुत प्रभाव पड़ता है, इस प्रकार समाज भी बच्चे के व्यक्तित्व-निर्माण में भाग लेता है। एक प्रभुत्वशील समाज बच्चे के निजी व्यक्तित्व का नाश कर देता है। यह केवल साधारण दशा में ही नहीं बल्कि समाज-विरोधी कार्यों में भी देखा जाता है। पाश्चात्य देशों में अपराधी बालक बिगड़े हुए घरों से ही अधिक आते हैं, परन्तु हमारे देश में वे उन घरों से भी

आते हैं जो उनके समाज के अनुसार बिगड़े हुए घर नहीं हैं। ऐसी अवस्था में अपराध और नैतिक आदर्श का अन्तर है। यद्यपि यह देखा गया है कि हमारे समाज की संस्कृति हमारे व्यवहार को मुख्य रूप से निश्चित करती है, और यह देखा गया है कि सामाजिक परिस्थितियों में अन्तर आने से हमारे व्यवहार में अन्तर आ जाता है। जब कोई व्यक्ति या परिवार एक संस्कृति को छोड़कर दूसरी में प्रवेश करता है तब उसका व्यक्तित्व भी उस परिवर्तन से प्रभावित होता है। साक्षात् परिचय में हम एक ही परिस्थिति में व्यक्ति के बहुत-से गुणों को जानना चाहते हैं, और स्वभावतः इसी कारण इसका फल उतना अधिक विश्वसनीय नहीं होता। किसी व्यक्ति के पूर्ण अनुभवों के आधार पर किया गया निर्णय भी ठीक नहीं होगा। क्योंकि उसमें उस व्यक्ति-विशेष की निजी धारणाएं भी कार्य करेंगी। आलपोर्ट (Allport) ने चौबीस गुणों की एक सूची बनाकर व्यक्ति का मूल्यांकन करने का प्रयास किया। लेकिन उसमें दो प्रकार से भ्रम हो सकता है। एक तो परीक्षा करने वाले व्यक्ति का मानदण्ड उसके अपने आदर्शों के अनुसार होगा, जो भ्रमपूर्ण हो सकता है। दूसरी बात यह है कि जिसकी परीक्षा ली जा रही है वह प्रश्नावली के ढंग से यह जान जाएगा कि परीक्षक किस प्रकार के उत्तर चाहता है, और वह उसी प्रकार उत्तर देने का प्रयत्न करेगा, जो सत्य न होने पर भी उसके मूल्यांकन को बढ़ा सकते हैं। इस प्रकार उसे व्यक्तित्व का ठीक-ठीक पता नहीं लग सकता है। परीक्षाफल भी इसी प्रकार भ्रमात्मक सिद्ध होगा, क्योंकि यह एक विशेष परिस्थिति का मूल्यांकन करता है, सम्पूर्ण जीवन का नहीं। इसका स्वाभाविक जीवन की परिस्थितियों से बहुत कम सम्बन्ध रहता है।

इस प्रकार हम यह देखते हैं कि किसी भी एक प्रणाली द्वारा व्यक्तित्व का मूल्यांकन ठीक प्रकार से नहीं हो सकता है। समभवतः यह उचित ही है, क्योंकि व्यक्तित्व इतना व्यापक विषय है कि किसी एक रीति से हम केवल उसके एक ही अंश की खोज कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त मूल्यांकन विधि पर इस प्रकार की है कि उसमें दो व्यक्तियों के व्यक्तित्व का संघर्ष होता है—परीक्षार्थी और परीक्षा। इन दोनों का ही सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन इस पर प्रभाव डालता है। इसीलिए मूल्यांकन की विधि कुछ सीमा तक कठिन और भ्रमपूर्ण होती है। अतः अन्त में यह कहना पड़ता है कि व्यक्तित्व का मूल्यांकन एक महत्वपूर्ण विषय है, फिर भी हम अभी तक उसे ठीक तरह से जानने में सफल नहीं हो सके हैं।

चरित्र-विकास

(Development of Character)

चरित्र का स्वरूप

भावों, संवेगों और भावगंडों को किसी आदर्श के आधार पर सम्बधित करने को चरित्र करते हैं। नवजात शिशु अपनी मूलवृत्तियों ही के द्वारा क्रियाशील होता है परन्तु अनुभव-वृद्धि के साथ वह सीखता है कि उसे परिस्थिति के अनुकूल ही क्रिया करनी पड़ेगी। सर्वप्रथम तो उसे सीखना पड़ता है कि भोजन अपने नियमित समय पर ही मिलेगा और प्रत्येक बार रोने से न मिलेगा। इसी प्रकार उसे सीखना पड़ता है कि दूसरे के अधिकारों की भी रक्षा करनी पड़ती है और उनसे सहयोग करना पड़ता है। इस प्रकार बच्चों का जीवन अनुशासित और सम्बद्धित होता जाता है। आयु-वृद्धि और अनुभव-वृद्धि के साथ बालकों की मूल-प्रवृत्तियां बौद्धिक और सामाजिक बनती जाती हैं। सहज प्रवृत्तियां अनेक बार दोहराई जाने पर भावगंडों में तथा स्थिर वृत्तियों में सम्बद्धित हो जाती हैं। प्रत्येक भावगंड में एक वस्तु-विशेष रहता है जैसे स्वदेश-प्रेम वह भावगंड है जिसमें आत्म-प्रकाशन (Self Assertiveness) कामना, रणप्रवृत्ति इत्यादि मूलप्रवृत्तियां देश के प्रति सम्बद्धित हो जाती हैं। इस प्रकार के देश-प्रेम, परिवार-प्रेम, शत्रु, द्वेष न्याय-प्रियता आदि भावगंड बन जाते हैं। फिर इन अनेक भावगंडों को भी सूत्रीकृत करना पड़ता है। ये सब भावगंड किसी एक आदर्श में सम्बद्धित हो जाते हैं। किसी एक ही आदर्श में सभी भावगंडों की सम्बद्धता को चरित्र कहते हैं। ऐसे तो समाज ने अनेक आदर्शों की रचना की है, जैसे प्रसिद्ध नेता होना, योद्धा होना, खिलाड़ी होना, लेखक होना, समालोचक होना, इत्यादि। बच्चों के चरित्र-विकास में पहले हमें उन्हीं शीलगुणों (Traits) या नैतिक भावगंडों को, जैसे सहयोगी होना, सदाचारी होना, न्यायी होना आदि गुणों को सिखाना पड़ता है और उन्हें किसी एक आदर्श को अपनाना सिखाना पड़ता है। नैतिक गुणों के सिखाने में पहले बच्चों को सामाजिक नियमों का अनुसरण करना और फिर उन्हें अच्छा जानकर उनके अनुसार आचरण करना सिखाना पड़ता है। यदि अभ्यास के आधार पर ही बच्चा सहयोगी और परोपकारी हो तो ऐसे बच्चे को नीतिकार या चरित्रवान

नहीं कहा जा सकता। चरित्रवान होने के लिए बच्चे में या किसी में भी यह ज्ञान अवश्य होना चाहिए कि परोपकार, सहयोग आदि श्रेष्ठ आचार हैं। अब हम चरित्र को बाल-शिक्षा के दृष्टिकोण से जानने की चेष्टा करेंगे।

ड्यूवे के अनुसार चरित्र में तीन बातें होती हैं, अर्थात् शारीरिक बल, बौद्धिक सूझ और संवेगात्मक कार्य-प्रेरणा (Enotional Responsiveness) बिना शारीरिक स्वास्थ्य और बल के कोई भी काम नहीं हो सकता। सहयोग देने के लिए लोगों, को बचाने के लिए, बच्चों के साथ खेलने के लिए शारीरिक स्फूर्ति का होना आवश्यक है। परन्तु हमारी परिस्थिति अति जटिल है। प्रत्येक अवसर पर काम नहीं किया जा सकता। हमें सीखना है कि विशेष परिस्थितियों के लिए उपयुक्त क्रियाएं करनी पड़ती हैं। इसलिए हमें बच्चों को सिखाना पड़ता है कि वे परिस्थितियों का विश्लेषण कर उनके अनूकूल प्रतिक्रियाएं करें। परन्तु विश्लेषण कर उपयुक्त प्रतिक्रियाओं को निर्धारित करने के लिए बौद्धिक विकास आवश्यक हो जाता है। शारीरिक स्फूर्ति और बौद्धिक विकास के साथ नैतिक क्रियाओं के लिए उत्साह भी होना आवश्यक है ताकि प्रत्येक अपने कर्त्तव्य को जानकर उसका पालन कर सकें। यदि बुद्धि-विकास और उत्साह भी हो और शारीरिक स्फूर्ति की कमी हो तो ऐसे व्यक्ति दार्शनिक और विचारक होंगे, परन्तु समाज-सुधारक और नीतिवान नहीं हो सकते। फिर यदि शारीरिक स्वास्थ्य के साथ पैनी बुद्धि हो और उत्साह या उमंग न हो, तो ऐसे व्यक्ति कर्मठ तो हो सकते हैं, परन्तु उनके आचरण में न तो आकर्षण ही रहता और न व्यक्तियों को प्रोत्साहित करने की शक्ति। इसी प्रकार यदि शारीरिक स्फूर्ति के साथ उमंग रहे, परन्तु बौद्धिक-विकास पूरा न हो, तो ऐसे व्यक्ति झक्की तथा आवेश में होकर काम करने वाले होंगे। अतः बच्चों को चरित्रवान बनाने के लिए हमें उनका ऐसा शिक्षण करना पड़ता है ताकि शारीरिक विकास के साथ उनमें कर्तव्यपरायणता हो; फिर उनकी बुद्धि का विकास ऐसा हो कि वे पक्षपातरहित होकर सभी परिस्थितियों को तोल सकें और उसके साथ समझ सकें कि जीवन में क्या मूल्य रखता है। अन्त में आदर्श के अनुसार काम करने में उत्साह और उमंग की अनुभूति कर सकने की क्षमता हो सके।

चरित्रवान होने के लिए बच्चों को स्वतंत्र स्वावलम्बी और सामाजिक जीव होना पड़ता है। स्वतंत्र और स्वावलम्बी होने के लिए बच्चों में आरम्भ से ही अच्छी आदतों को डालना चाहिए, जैसे अपने ही से अकेले और अंधेरे में नियमित समय पर सोना, सफाई से, अपने-आप, पेटभर जो मिले समय पर सामाजिक रीति से भोजन करना; अपने से कपड़े पहनना, जूता पहनना इत्यादि। दिनचर्चा के विषय में सभी कामों को कर सकने से बच्चा माता-पिता तथा धाई से स्वतंत्र हो जाता और उसमें आत्मबल

आ जाता है। फिर परोपकारी होने के लिए बच्चों के लिए ऐसी स्थिति खड़ी करते रहना चाहिए कि वे परस्पर सहायता और सहयोग कर सकें। जैसे, गिरे हुए बच्चे को उठाकर उसकी पेंसिल दे देना, या अन्य बच्चों के साथ मिलकर बालू का पुल बनाना आदि। इन्हीं विशेष परिस्थितियों में सहयोग करते-करते सहयोगी होने की आदत पड़ जाती है। पूर्णरूप से सामाजिक आदर्शों को अपने जीवन का अंग बनाने के लिए बच्चों को केवल अभ्यास ही नहीं, परन्तु माता-पिता या गुरु को नमूना जानकर उनका अनुकरण करना चाहिए। अतः माता-पिता या गुरुओं को आदर्श-जीव बनाने का प्रयास करना चाहिए।

चरित्र-निर्माण के अनुशासन

नैतिक गुण और दोष बच्चे के खेलों के द्वारा, कहानियों के द्वारा और परिस्थितियों और विशेषों में निर्दिष्ट उपयुक्त कार्यों के द्वारा और बड़े लोगों के अनुकरण से सीखते हैं। अब यहां प्रश्न उठ सकता है कि बच्चों में अनुशासन कैसे हो ? बच्चों के अनुशासन में निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना चाहिए—

1. कोई भी अनुशासन हो, परन्तु उसका ध्येय यही हो कि बच्चा आत्म-संयमी (Self Cantrolled) बन सके।

(क) पहली बात तो यह है कि अच्छी आदतें आरम्भ से ही किशोरावस्था तक सिखाई जाएं और इनमें किसी भी प्रकार की त्रुटि न होनी चाहिए। इन आदतों का उल्लेख कई स्थानों पर कर दिया गया है।

(ख) बच्चों को चलने-फिरने की स्वच्छन्दता भी मिलती रहनी चाहिए। बड़े होने पर उनके लिए खेलने का खुला मैदान होना चाहिए।

(ग) बच्चों को आरम्भ से ही ऐसी शिक्षा देनी चाहिए कि वे अपना उत्तरदायित्व और आत्मबल समझ सकें उन्हें अपने खिलौनों को अपने इच्छानुसार रखने का अवसर देना चाहिए। बड़े होने पर उन्हें प्रत्येक सप्ताह पॉकेट खर्च मिलना चाहिए जिसे वे अपनी इच्छानुसार खर्च कर सकें। किशोरावस्था प्राप्त कर लेने पर उन्हें अपने मित्रों को चुन लेने की पूरी स्वतंत्रता मिलनी चाहिए।

(घ) बच्चों के सामने माता-पिता और गुरुजनों को भी अच्छा आदर्श रखना चाहिएं क्योंकि बच्चे उन्हीं व्यक्तियों का सबसे अधिक अनुकरण करते हैं।

2. यदि बच्चों को दण्ड देना आवश्यक ही हो जाय तो निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना चाहिए—

(क) बच्चों को दण्ड देने के समय ध्यान रखना चाहिए कि बच्चा अपने दण्ड का कारण समझ सके। अपने दण्ड न समझने पर उसे आत्महीनता का भाव हो जाता

है। जैसे, बच्चा कभी-कभी घड़ी हाथ में लेकर पटक देता है। उस समय बच्चों पर क्रोध करने से विशेष लाभ नहीं पहुंचता है। जब खिलौने के पटकने पर आप हंसते हैं तो घड़ी के पटकने पर आप क्यों रोयें ? बच्चे के लिए तो घड़ी की वही कीमत है जो उस खिलौने की है।

(ख) बहुत छोटे बच्चों को अपने पहले अपराधों के लिए दण्ड नहीं देना चाहिए; क्योंकि वे उनके मर्म को समझने की योग्यता नहीं रखते। ऐसे स्थलों पर उन्हें बताना चाहिए कि उनकी गलती कहां हुई और सम्भवतः संयुक्त क्रिया को करके दिखला देना चाहिए।

(ग) बार-बार दण्ड देने से बच्चे बेकार हो जाते हैं। इसलिए दण्ड को सुधारने का उपयोगी साधन बनाने के लिए बच्चों को बहुत ही कम मारना या अन्य प्रकार से दण्डित करना चाहिए। माता-पिता के सुशिक्षित रहने से बच्चों को दण्ड देने का अवसर ही नहीं आता।

(घ) अनुशासन अपराध के बाद अति शीघ्र होना चाहिए ताकि बच्चा अपराध करना न सीखे। बच्चा जितना छोटा होगा उतना ही अधिक इस बात का ध्यान रखना चाहिए।

(च) दण्ड का भय बार-बार नहीं दिखाना चाहिए। यदि किसी भूल के कारण बच्चा दण्डित हो, तो उसकी याद न दिलवाई जाए। बच्चों में तो आत्मबल, आत्म-विश्वास और आत्म-मर्यादा को बढ़ाना है। अतः ऐसी घटनाओं की स्मृति न कराई जाए जिससे उन्हें आत्म-सम्मान में ठेस लगे। इसलिए बच्चों को अन्य व्यक्तियों के सामने बुरा-भला नहीं कहना चाहिए।

३. यदि बच्चों को दण्ड देना आवश्यक हो ही जाए तो निम्नलिखित प्रकार के दण्डों को दिया जा सकता है—

(क) यदि दण्ड प्राकृतिक नियमानुसार स्वयं ही हो जाए तो अच्छा हो यदि बच्चा गरम दूध के बर्तन को या चाय की केतली को छूने का आग्रह करे, तो उसे छूने देना चाहिए। यदि हमारी देख-भाल में बच्चा छूकर जलेगा तो उसकी वैसी हानि नहीं होगी जैसी हानि हमारी अनुपस्थिति में गरम दूध के बर्तन से हो सकती है। थोड़ी-सी वेदना से उसे अच्छा लाभ हो सकता है। बड़े बच्चों को सुखी रखने के लिए या हठ करने के लिए दण्ड न दिया जाए। परन्तु यदि घूमने के लिए जाना है और वह तैयारी देरी से करे तो उसका घूमना बन्द कर दिया जाए। यदि सिनेमा जाना है तो उसका सिनेमा जाना ही स्थगित कर दिया जाए। कभी-कभी यदि बच्चे के न तैयार होने से या सुस्ती करने से आपको ही घूमने या सिनेमा जाने में देर हो जाए तो बच्चों को सिखाने के लिए आप स्वयं अपना घूमना या सिनेमा जाना स्थगित कर दें।

(ख) प्रायः किसी काम को करने के लिए उनकी कार्यवाही में विघ्न नहीं डालना चाहिए। बड़े बच्चों के विषय में इस बात का ध्यान नहीं रखते। यदि उनकी कार्यवाही बन्द ही करनी पड़े तो यह भी उनके खेल की रीति ही में होना चाहिए। उदाहरण के लिए हम बच्चे से कह सकते हैं—"अच्छा ! अब मोटर ठहर जाएगी, क्योंकि मोटर-ड्राइवर अब खाने जाएंगे।" फिर आज्ञा देते समय विनय का भाव दिखाना चाहिए।

(ग) अच्छे कामों की प्रशंसा करते रहना चाहिए। हमेशा झिड़कने से और कोसने से बच्चे प्रोत्साहित नहीं होते। कुछ तो बच्चों की आयु पर भी निर्भर करता है। $1\frac{3}{4}$-$2\frac{1}{2}$ वर्ष तक के बच्चों में हठीलापन होता है फिर 3 वर्ष के बच्चों में ध्वंसक प्रवृत्ति बहुत होती है, क्योंकि वे न तो वस्तुओं के मोल को समझते हैं और न उस अवस्था में कुछ बना ही सकते हैं। अतः बच्चों की प्रवृत्तियों को जानकर उनका अनुशासन करना चाहिए।

(घ) बच्चों को हमेशा बताना चाहिए कि क्यों कुछ कामों को अच्छा कहकर के कहा जा रहा है ताकि वे विचारपूर्ण व्यक्ति बन सकें। फिर हमारे व्यवहार में सामञ्जस्य, एकविधता (Uniformity) और सुबद्धता (Consistency) रहनी चाहिए। इसकी महत्ता हमने आदत डालने की विधि में देख ली है। इस बात पर विशेष ध्यान उस समय रखना चाहिए, जबकि माता-पिता में ही आपस में मतभेद रहे। माता कड़ी अनुशासक हो सकती है, जबकि पिता की नीति ठीक इसके विपरीत हो। इस दशा में माता-पिता को मिलकर एक ही नीति का पालन करना चाहिए; नहीं तो बच्चा कुछ सीख न पावेगा।

(च) बच्चों के सामने माता-पिता को झगड़ना न चाहिए और न बच्चों को ऐसा अवकाश देना चाहिए कि माता-पिता के झगड़े में पड़ें।

(छ) बराबर अच्छा काम करने के लिए बच्चों को इनाम नहीं देना चाहिए, नहीं तो वे लोभी हो जाएंगे और अच्छे कामों के अच्छेपन को नहीं समझ सकेंगे।

(ज) बच्चों की छोटी-छोटी भूलों पर बराबर ध्यान नहीं देना चाहिए। कभी-कभी तो बच्चे कुछ काम इसलिए करते हैं कि ये बड़ों का ध्यान खींच सकें। जब उनकी नटखटी पर ध्यान ही न दिया जाए तो बच्चों को उसका आकर्षण नहीं रह जाता। अपराधी बालकों के सुधार में यह भी एक विधि लाभप्रद सिद्ध हुई है।

4. अति कड़ाई और बार-बार दण्ड देने से कुछ बुरे परिणाम देखने में आते हैं। पहली बात तो यह है कि कड़ाई से बच्चे सहमे हुए रहते हैं जिससे उनमें झूठ बोलने, धोखा देने और अन्य अपराध करने की प्रवृत्ति हो जाती है। कुछ बच्चे तो बड़े होकर हृदयहीन, कठोर और कलहकारी व्यक्ति हो जाते हैं और कुछ उपद्रवी तथा ध्वंसक जीव बन जाते हैं। तीसरी बात यह है कि उन बच्चों में जिनमें आत्मविधान

कुछ क्षीण होता है, कठोर अनुशासन से दब्बू और कायर जीव बन जाते हैं। उनमें कल्पना का भी बाहुल्य हो सकता है और काम कर सफलता प्राप्त करने की शक्ति क्षीण पड़ जाती है।

चरित्र-विकास की अवस्थाएं

चरित्र-विकास में चार अवस्थाएं देखी जाती हैं। पहली अवस्था वह है जिसमें सारी प्रतिक्रियाएं जन्मजात होती हैं और फिर अभिसंधान और प्रमाद नियम से परिवर्तित होती जाती हैं। जैसे, मोमबत्ती की ओर हाथ बढ़ाना और उसकी ज्वाला से जलकर मोमबत्ती को फिर न छूना। इस अवस्था में नाना प्रकार की आदतें बच्चों में डाली जाती हैं। दूसरी अवस्था वह है जिसमें दण्ड और प्रलोभन के आधार पर व्यवहार में परिवर्तन लाया जाता है। यह अवस्था बच्चों में लगभग 12 वर्ष तक रहती है। जब बच्चा अच्छी तरह पढ़ता है, तब उसे शाबाशी मिलती है और जब बुरा काम करता है तो उसे दण्ड दिया जाता है। 8 वर्ष से किशोरावस्था तक एक तीसरी अवस्था आती है जिसमें समाज या गुट के नियमों का पालन किया जाता है। बालक अपने गुट की भांति कपड़े पहनते या खेलते या अन्य व्यवहार करते हैं। जब गुट का नायक किसी बालक विशेष को अपने गुट से निकाल देता है तो उस बालक विशेष के लिए यह बड़ा दण्ड होता है। चरित्र-विकास की अन्तिम अवस्था वह है जिसमें बालक परहित को अपना हित समझकर समाज में सक्रिय होता है। इसे ही चरित्र-विकास की पराकाष्ठा समझी जाती और दधीचि तथा कर्ण और महात्मा गांधी इसके आदर्श हैं। यह कहना बहुत कठिन है कि किस बच्चे में कब एक अवस्था समाप्त होती है और दूसरी चली आती है। प्रायः चारों अवस्थाएं सभी में पाई जाती हैं, परन्तु चरित्रवान् व्यक्तियों में परहित की ही अवस्था विशेषकर पाई जाती है। इसी अन्तिम अवस्था को ही नैतिक अवस्था समझना चाहिए। इसके विकास में भी दो उपावस्थाएं देखी जाती हैं—

(1) पहली उपावस्था वह है जिसमें बालक समाज और गुट के नियमों की पालना करने के लिए बाह्य अधिकारियों से विवश किया जाता है।

(2) दूसरी वह अवस्था है जिसमें समाज और गुट के नियमों को अपनाकर और उन्हें परहित का साधन समझकर उनका पालन किया जाता है। बच्चों को सच्चा परोपकारी बनाने के लिए इन विधियों का पालन करना चाहिए।

(क) बच्चों को ऐसी दशाओं में रखना चाहिए जिनमें वे गुट के व्यक्तियों से प्रभावित होकर लोक-हितकारी कार्य कर सकें।

(ख) फिर बच्चों को गुट में खेलने के लिए प्रोत्साहित किया जाए ताकि बच्चे

गुट के हित को ही अपना हित समझ सकें और इस प्रकार परहित को अपना हित समझकर सामाजिक काम कर सकें।

(ग) वाक्य-रचनाओं के द्वारा जैसे, सत्य ही परमधर्म है, या अहिंसा ही सच्चा बल है आदि। बच्चे समाज के नियमों को अपनाते हैं; और उन्हें इन नियमों के अनुसार कार्य करने के लिए प्रोत्साहित भी करना चाहिए। बच्चों का चरित्र-विकास कई घटकों पर निर्भर करता है। उनमें आयु, बुद्धि, घर की परिस्थिति, संगी-साथी, स्कूल, खेल-कूद, सिनेमा, अध्ययन आदि प्रमुख घटक (Factors) हैं।

नैतिक विकास

समाज द्वारा निर्धारित नियमों के अनुसार चलना नैतिकता कहा जा सकता है। अतः विभिन्न समाज द्वारा आचरण के लिए निर्धारित विभिन्न नियमों के अनुसार नैतिकता के स्वरूप में कुछ भेद पाया जाता है। इस प्रकार एक ही समाज के विभिन्न वर्गों की नैतिकता के स्वरूप में भी विभेद पाया जाता है। अच्छे तथा बुरे व्यवहार-सम्बन्धी किसी वर्ग के व्यक्तियों के लिए नैतिक व्यवहार क्या है ?

अच्छे नैतिक विकास के लिए आवश्यक बातें

अच्छे नैतिक विकास के लिए कुछ बातों की आवश्यकता होती है। इनकी ओर ब्रेकेनटिज और विनसेण्ट ने इस प्रकार संकेत किया है—

1. यथा सम्भव अच्छा स्वास्थ्य।
2. संवेगात्मक सुरक्षा, दूसरों से प्यार और आदर पाने की प्रवृत्ति।
3. विभिन्न भावनाओं के प्रकाशन के लिए स्वस्थ्यकर साधनों की प्रगति जिससे व्यक्ति अवांछित मार्ग की ओर न झुकें।
4. कुछ आत्म-नियंत्रण रखना जिससे बचपन-जैसी प्रवृत्तियों पर आवश्यक रोक रखी जा सके।
5. सामाजिक दृष्टिकोण को सदा विस्तार देते रहना जिससे व्यक्ति दूसरों के प्रति सहानुभूति और सहिष्णुता दिखला सके और दूसरों के अधिकारों और सुविधाओं पर ध्यान दे।
6. 'उचित वस्तु' को ही प्राप्त करने के लिए प्रेरणा का रहना और 'उचित कार्यों को ही करने में सन्तोष प्राप्त करना।

नैतिकता सीखी जाती है

शिशु न नैतिक होता है और न अनैतिक, वह तो विनैतिक होता है, क्योंकि उसका व्यवहार नैतिक नियमों द्वारा अनुशासित नहीं होता। नैतिक व्यवहार

दिखलाने के पहले बालक को यह सीखना चाहिए कि उसका समाज किस वस्तु को अच्छा और किसको बुरा कहता है। यह सब धीरे-धीरे वह अपने मित्रों, शिक्षकों तथा माता-पिता से सीखता हैं। यदि समाज द्वारा मान्य व्यवहार बालक के लिए सुखद है तो वह शीघ्र सीख लेगा और इस प्रकार के व्यवहार दिखलाने की उसकी आदत हो जाएगी। अतः उचित पथ-प्रदर्शन और शिक्षण से माता-पिता तथा शिक्षकों को यह देखना चाहिए कि सामाजिक सन्दर्भ में बालकों के अनुभव यथासम्भव सुखद हों, तभी वे सरलता से नैतिकता का पाठ सीख सकेंगे। यदि बालक को कोई कार्य करने के लिए विवश किया जाता है तो वह कुछ भी न सीख सकेगा। अतः स्वाभाविक रूप में ही उसे सब-कुछ सिखाने का प्रयत्न करना चाहिए।

नैतिक विकास के अंग

नैतिक विकास के दो अंग किए जा सकते हैं—(1) नैतिक व्यवहार का विकास और, (2) नैतिक प्रत्यय का विकास। इन दोनों अंगों पर हम नीचे विचार करेंगे।

नैतिक व्यवहार का विकास

सामाजिक रीति-रिवाज के अनुसार व्यवहार पाना बच्चा कई वर्षों में सीख पाता है। यदि उसके ऊपर मनोवैज्ञानिक नियंत्रण रखा गया और उसके विविध अनुभव और सुखद बनाए गए तो वह नैतिक-व्यवहार दिखलाना शीघ्र ही सीख लेगा। ठीक और गलत का ज्ञान आ जाने से ही बालक नैतिक व्यवहार दिखलाने में समर्थ नहीं होता। आवश्यक ज्ञान देने के बाद उदाहरण द्वारा यह दिखलाना चाहिए कि उस ज्ञान को कार्यान्वित कैसे किया जाए। कुछ विशिष्ट परिस्थितियों के संदर्भ में ही बालक को नैतिक-व्यवहार सिखलाया जा सकता है।

नैतिक व्यवहार सीखने के लिए सर्वप्रथम बालक को यह सीखना चाहिए कि घर पर उचित व्यवहार कैसे दिखलाना चाहिए। इसके बाद स्कूल जाने लगने पर उसे स्कूल के नियमों के अनुसार नैतिक व्यवहार दिखलाने का प्रयत्न करना चाहिए। तब उसे यह सीखना चाहिए कि खेल के मैदान में नैतिक व्यवहार का तात्पर्य क्या होता है। यदि घर, स्कूल और खेल के मैदान में नैतिक नियम समान हुए अर्थात् यदि व्यवहार-सम्बन्धी उनके आदर्शों में विरोध न हुआ तो बालक शीघ्र ही नैतिक व्यवहार सीख लेगा। यदि उनमें कुछ विरोध होता है तो बालक विस्मित होता है कि एक परिस्थिति में उसके किसी व्यवहार की क्यों प्रशंसा की जाती है और दूसरी परिस्थिति में उसी प्रकार के व्यवहार की क्यों निन्दा की जाती है। ऐसी स्थिति में नैतिक प्रत्यय का विकास करना उसके लिए बड़ा कठिन हो जाता है। उदाहरणार्थ, यदि बालक को

चुपके-चुपके सन्दूक से मिठाई निकालकर खाने की सुविधा दे दी जाती तो वह यह नहीं समझ पाता कि बालकों की पेन्सिल चुराने पर उसे क्यों दण्ड दिया जाता है। कहने का अर्थ यह है कि 'चोरी करना' प्रत्येक स्थिति में अनैतिक मानना चाहिए, चाहे वह घर में स्कूल में, अथवा खेल के मैदान में हो।

नैतिक व्यवहार को सीखना संयोग पर नहीं छोड़ा जा सकता और न इसे बालक के प्रयत्न और भूल-सम्बन्धी अनुभवों पर छोड़ा जा सकता है। बालक को नैतिक व्यवहार सिखलाने के लिए चार प्रमुख सिद्धान्तों पर विशेष ध्यान देना चाहिए—(1) नैतिक व्यवहार को समाज द्वारा स्वीकृत नियमों पर चलना चाहिए। (2) बच्चे को स्पष्टतः यह बतलाना चाहिए कि क्या उचित है क्या अनुचित। (3) समझने योग्य हो जाने पर बालक को यह बतलाना चाहिए कि क्यों कुछ बातें ठीक मानी जाती हैं और दूसरी गलत। (4) बच्चों के पथ-प्रदर्शन का भार जिनके ऊपर है उन्हें यह देखना चाहिए कि उचित व्यवहार के साथ बच्चों को सुखद अनुभव मिलते हैं और अनैतिक व्यवहार के साथ उन्हें दुखद अनुभव मिलते हैं। अर्थात् नैतिक व्यवहार पर बच्चे को पुरस्कार देना चाहिए अथवा उसकी प्रशंसा करनी चाहिए और अनैतिक व्यवहार पर उसे दण्ड देना अथवा उसकी निन्दा करनी चाहिए।

किसी भी आदत निर्माण का यह मनोवैज्ञानिक नियम है कि इसमें कभी छूट नहीं देनी चाहिए, अर्थात् आदत को दृढ़ करने के लिए एक अवसर को भी न खोना चाहिए। नैतिक आदतों के सम्बन्ध में यही नियम लागू करना चाहिए। नैतिक शिक्षा के क्रम में भी विरोध न दिखलाई पड़े। जो बात आज गलत मानी जाती है उसे कल भी गलत कहना चाहिए। यदि इस स्थिरता की रक्षा न की गई तो बालक की समझ में कुछ न आएगा। इस स्थिरता के अभाव में बहुत-से बालक समस्या-बालक हो जाते हैं, क्योंकि वे नहीं समझ पाते कि उनसे क्या अपेक्षा की जा रही है।

नैतिक प्रत्यय का विकास

नैतिक प्रत्ययों का सीखना अथवा नैतिक विकास, विकास का दूसरा अंग है। इसमें बालक शाब्दिक रूप में उचित और अनुचित के सिद्धान्तों को सीखता है। बहुत छोटे बालक के लिए यह समझना कठिन होता है। जब बालक में इतनी मानसिक शक्ति आ जाती है कि वह विभिन्न बातों का विश्लेषण और संश्लेषण कर सके तब वह इन सब सिद्धान्तों को समझ सकता है। तभी वह एक परिस्थिति में लिखे हुए आचरण-नियमों को दूसरी परिस्थिति में लागू कर सकता है।

चरित्र का विकास

नैतिक शिक्षा का चरित्र-विकास में बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है परन्तु नैतिक

शिक्षा के स्वरूप का निर्धारण करना बड़ा ही कठिन सिद्ध हुआ है। स्कूल के अन्य विषयों की शिक्षा के आयोजन में विशेष कठिनाई नहीं होती, किन्तु नैतिक शिक्षा के सम्बन्ध में यह समस्या बड़ी विकट हो जाती है। इसके लिए योग्य शिक्षकों का पाना अत्यन्त कठिन है। नैतिक उपदेश देने के पूर्व शिक्षकों को उन्हें स्वयम् अपने व्यवहार में कार्यान्वित करके दिखलाना चाहिए अन्यथा उनके उपदेश का उल्टा परिणाम होगा। अतः नैतिक शिक्षा के लिए उसके सामने अच्छे उदाहरणों का रखना आवश्यक होगा। बालकों में देखकर कुछ करने की प्रवृत्ति होती है इस सम्बन्ध में महात्मा गांधी का उदाहरण रखना सर्वथा उपयुक्त होगा।

यह उन दिनों की बात है, जब कि गांधीजी की आयु लगभग 8 या 10 वर्ष की रही होगी। उनके यहां हरिश्चन्द्र नाटक हो रहा था। बस्ती के लड़के बराबर देखकर आते और तारीफ करते। बालक मोहनदास कर्मचन्द की भी इच्छा हुई कि वह सत्यवादी हरिश्चन्द्र का नाटक देखें। अस्तु, माता-पिता की स्वीकृति लेकर नाटक देखने चले गए। नाटक में महाराजा हरिश्चन्द्र की सच्चाई और उस सच्चाई के कारण राजपाट दे देना तथा खुद को डोम के हाथों बेच देने की दुःखद घटनाओं का वर्णन था। सत्य के पीछे एक राजा ने कितने कष्ट उठाए और अन्त में उनका क्या प्रतिफल हुआ यह सब कुछ बालक मोहनदास कर्मचन्द के लिए नैतिक शिक्षा का काम किया, यही शिक्षा अन्त में सच्चाई का एक ऐसा वृहद रूप धारण किया जिसकी वजह से गांधीजी भविष्य में सत्य को अपने जीवन में सदैव प्रमुख स्थान देते रहे। उनका कहना था कि मेरा जीवन सत्य के लिए है। केवल इसी एक घटना ने गांधीजी को महान् पुरुष बनाने में कितना बड़ा योगदान दिया वह किसी से छिपा नहीं है।

बालक मोहनदास कर्मचन्द गांधी को सत्य के लिए किसी उपदेश या पुस्तकों में इसके सम्बन्ध में पढ़ने की आवश्यकता नहीं हुई। एक बार की घटना है कि गांधीजी के एक चचेरे भाई जिनसे उनका बहुत प्यार था, अपनी किसी बुरी लत के कारण कुछ कर्जदार हो गए। घर वालों की चोरी में यह कर्ज उन पर हुआ था। केवल गांधीजी को इसका पता था। जिसको रुपया लेना था वह बराबर तकाजे करने लगा और यहां तक कि तरह-तरह की धमकियां भी देने लगा। गांधीजी के भाई रुपये देने में असमर्थ थे, उनकी मजबूरी को देखकर गांधीजी ने अपने हाथ के सोने के कड़े में से थोड़ा-सा सोना काटकर बेच दिया और उसी रकम से अपने भाई का कर्ज अदा कर दिया। किन्तु अपने घर में इस सम्बन्ध में किसी से कुछ नहीं कहा। धीरे-धीरे यह घटना गांधीजी को कष्ट देने लगी और बराबर सत्यवादी हरिश्चन्द्र का देखा हुआ नाटक उनकी आंखों के सामने उसी रूप में घूमने लगा। एक महाराजा ने सत्य के कारण इतना कष्ट उठाया और एक मैं हूं कि छोटी-सी बात में भी सच्चाई को स्थान

नहीं दे सका। यह आत्मिक कष्ट बालक मोहनदास को बुरी तरह हो रहा था। अन्त में उन्होंने निर्णय किया कि जैसे भी हो मैं इस चोरी की घटना का उल्लेख अपने पिताजी से कहूंगा चाहे फिर इसका जो भी नतीजा हो। अन्त में सत्य की विजय हुई। बालक मोहनदास कर्मचन्द गांधी ने एक पत्र अपने पिताजी को लिखा और सारी घटना को ज्यों-का-त्यों रख दिया, साथ ही उस चोरी के लिए अपने पिताजी से दण्ड भी मांगा। गांधीजी के पिता ने पत्र को पढ़ा और उनकी आंखों में आंसू छलछला आए। बड़े प्यार से गांधीजी को अपने पास बुलाया और कहा—"तुमने ऐसा मार्ग अपनाया है कि यदि अपनी पूरी जिन्दगी में इसको स्थान देते रहे तो इसमें कोई सन्देह नहीं है कि तुम एक दिन अवश्य संसार में अपनी सच्चाई के कारण इज्जत की नजर से देखे जाओगे।"

जैसा कि हम सभी जानते हैं गांधीजी के लिए सत्य का क्या मूल्य था और अन्त तक उन्होंने इसका पालन कैसे किया ? यह केवल नैतिक शिक्षा के उस विशेष अंग हरिश्चन्द्र नाटक का प्रतिफल था जिसे लड़कपन में गांधीजी ने देखा था और जिसकी सच्चाई की स्थायी छाप उनके हृदय में हमेशा के लिए कायम हो गई। चरित्र-विकास में बच्चों के लिए इस प्रकार की घटनाएं कितनी उपयोगी होती हैं इसका प्रत्यक्ष उदाहरण महात्मा गांधी का जीवन-चरित्र है जिसमें से केवल एक घटना का वर्णन किया गया है।

अपने कार्यों के फलस्वरूप बालक अपने आचरण को अच्छा या बुरा मानता है। बड़ा होने पर बालक को यह समझना चाहिए कि उसके कार्यों का सामाजिक फल क्या होगा। उसे अब यह सोचना चाहिए कि उसके किसी आचरण के बारे में उसके समूह के लोग क्या सोचेंगे। समूह के सम्पर्क में आने से बालक को बड़ा लाभ होता है, क्योंकि इस सम्पर्क से वह यह समझ पाता है कि उसके व्यवहार के बारे में दूसरे क्या सोचते हैं। अपने अथवा दूसरों के कार्यों के औचित्य अथवा अनौचित्य को समझ सकने की योग्यता स्वयं अपने व्यक्तिगत अनुभवों से आती है, न कि नैतिक सिद्धान्तों पर दूसरों का प्रवचन सुनने से। बच्चों के नैतिक प्रत्ययों के सम्बन्ध में कई परीक्षणात्मक अध्ययनों से यह पता चला है कि नैतिक प्रत्ययों और बुद्धि तथा प्रौढ़ता में घनिष्ठ सम्बन्ध है। मैकाले और वाटेकिन्स ने 2500 बालकों से सबसे अधिक पापपूर्ण बातों की सूची बनाने के लिए कहा। उन्होंने देखा कि नौ वर्ष की उम्र तक बच्चों के लिए सब मूर्त और निश्चित होते हैं। इस अवस्था तक अमूर्त बातों को समझना उनके लिए कठिन होता है। नौ वर्ष के बच्चों के लिए सबसे अधिक पापपूर्ण बातों का सम्बन्ध, माता की अवज्ञा करना अथवा छोटे पशुओं को चोट पहुंचाना था। नौ वर्ष के बाद नैतिक विकास का घेरा कुछ और बढ़ जाता है।

उदाहरणार्थ अब बच्चे चोरी करने को बुरा मानते हैं, चाहे जिस वस्तु की चोरी की जाए। इसका तात्पर्य यह हुआ कि अब उनमें चोरी करने का सामान्य प्रत्यय बन गया है। बच्चों के उत्तरों से उचित और अनुचित के ज्ञान के स्रोत का अनुमान किया गया और यह देखा गया कि वे इसका ज्ञान बहुधा अपनी मां से सीखते हैं। उनके उत्तरों में पिता की ओर बहुत कम संकेत मिलता है।

'हार्टशोन' और 'मे' द्वारा किए गए कुछ परीक्षणात्मक अध्ययनों से पता चलता है कि नैतिक प्रत्यय के होने से यह आवश्यक नहीं है कि व्यक्ति तदनुकूल नैतिक व्यवहार भी दिखलावे। 'हार्टशोन' और 'मे' ने देखा कि धोखा देने के अर्थ को समझ लेने पर विशिष्ट परिस्थिति के आने पर बच्चे अपनी धोखा देने की प्रवृत्ति को संवरण नहीं कर सके। एक परीक्षा में 933 विद्यार्थियों को नकल करते पाया गया। इनमें 89 प्रतिशत ने बतलाया कि वे जानते थे कि नकल करना धोखा देना है। अपराधी बालकों के सम्बन्ध में नैतिक प्रत्यय और नैतिक व्यवहार के अन्तर को अच्छी तरह समझा जा सकता है, क्योंकि ये लड़के बहुधा उचित और अनुचित का ज्ञान रखते हुए भी असामाजिक कार्यों में भाग लेते हैं। 'वार्टलेट' और हैरिस ने देखा कि हाईस्कूल के विद्यार्थियों तथा अपराधी बालकों के नैतिक प्रत्ययों के ज्ञान में बड़ी समानता थी। वेबर ने किसी जेल-स्कूल की 128 लड़कियों से एक क्रम में 16 बुरी बातों की सूची बनाने के लिए कहा। वेबर को उनकी सूचियों से ज्ञात हुआ कि उनमें उतनी नैतिक अन्तर्दृष्टि होती है जितनी कि विश्वविद्यालय की लड़कियों में होती है। इन सब निष्कर्षों का तात्पर्य केवल इतना ही है कि उचित और अनुचित का ज्ञान किसी को अनैतिक व्यवहार से रोकता नहीं, अर्थात् नैतिक प्रत्यय और नैतिक व्यवहार में अन्तर पाया जाता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि किसी वस्तु के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त कर लेने का तात्पर्य यह नहीं होता कि व्यक्ति तदनुकूल व्यवहार भी दिखलाएगा ही।

नैतिक विकास की अवस्थाएं

विकास की अन्य अवस्थाओं के सदृश नैतिक विकास भी एक क्रम में चलता है। अतः बालकों के सम्बन्ध में यह पूर्व अनुमान किया जा सकता है कि किस अवस्था पर कौन-से नैतिक गुण बालक में अपेक्षित किए जा सकते हैं। अपने नैतिक विकास के क्रम में बालक एक अवस्था से दूसरी अवस्था में बड़े धीरे-धीरे आता है। विकास की एक अवस्था महीनों तक भी चलती है। नीचे नैतिक विकास की केवल तीन प्रधान अवस्थाओं का संक्षेप में उल्लेख किया जाएगा (1) शैशव में नैतिकता, (2) प्रारम्भिक बचपन में नैतिकता और (3) बचपन के अन्तिम दिनों में नैतिकता।

शैशव में नैतिकता

इस अध्याय के प्रारम्भ में ही यह कहा जा चुका है कि शिशु न तो नैतिक होता है और न अनैतिक; वह तो विनैतिक होता है। अतः उसे उचित और अनुचित कार्यों को सीखना है। समाज द्वारा स्वीकृत और अस्वीकृत नैतिक विषयों का अर्थ बालक के लिए कुछ नहीं होता। उसके व्यवहार स्वाभाविक प्रवृत्तियों द्वारा नियंत्रित होते हैं। सुख और दुःख की अनुभूति के आधार पर वह किसी कार्य के औचित्य और अनौचित्य के विषय में निर्णय करता है। उसके कार्य से किसे लाभ अथवा हानि होती है। इसकी उसे चिन्ता नहीं रहती। बिना बुरे परिणाम को जाने बच्चे के लिए यह समझना कठिन हो जाता है कि उसका कोई कार्य बुरा है। वह सोचता है कि उसके व्यवहार का सम्बन्ध केवल उसी से है और जब तक उसे अपने किसी कार्य की अनुचित अनुभव नहीं मिलता तब तक उसमें सुधार लाना वह आवश्यक नहीं समझता।

तीन या चार वर्ष की अवस्था से बच्चा कुछ-कुछ समझने लगता है कि जिसे लोग चाहते हैं वह कार्य अच्छा है, और जिसकी लोग निन्दा करते हैं वह कार्य बुरा है। इस समय दूसरों के प्रति किसी कर्त्तव्य की भावना उसमें नहीं रहती। अतः जो मन में आता है वही वह करता है। किसी को प्रसन्न करने की भावना उसमें नहीं रहती। उसके कार्य से यदि दूसरों को किसी प्रकार का दुःख पहुंचता है तो उसमें पश्चात्ताप की भावना नहीं आती।

शैशव में सम्पत्ति-अधिकार की भावना बच्चे में नहीं रहती। बच्चे को जो अच्छा लगता है उसे वह उठा लेता है। वह यह नहीं सोचता कि वह किसकी वस्तु है। दूसरे के खिलौने को अथवा किसी दुकान के खिलौने को वह बिना संकोच के उठा लेगा। यह सब करने में उसमें चोरी की भावना नहीं आती।

बचपन के प्रारम्भिक दिनों में नैतिकता

तीसरे से छठे वर्ष के अन्दर नैतिक आवरण के कुछ मूल सिद्धान्तों से बच्चों का परिचय हो जाना चाहिए। इस काल में बच्चे से यह कहना आवश्यक नहीं है कि कोई कार्य क्यों बुरा है, क्योंकि इस समय बच्चे की मानसिक प्रौढ़ता इतनी अधिक नहीं होती कि वह इन सब बातों को समझ सके। किसी अनुचित कार्य के करने पर उसे कैसा दण्ड मिलता है इसी के आधार पर किसी कार्य के अनौचित्य को वह समझता है। अतः उसके वातावरण के लोग जिस प्रकार के कार्य करने पर उसकी प्रशंसा करते हैं वह वैसा ही करने का प्रयत्न करता है। इस समय उसकी नैतिकता का स्वर केवल यहीं तक रहता है। इस प्रकार कभी-कभी वह उचित कार्यों

को करता है परन्तु वह उनके औचित्य के कारण को नहीं समझता।

पांच या छः वर्ष के हो जाने पर बच्चे में आज्ञाकारिता की आदत कुछ आ जानी चाहिए। 'अच्छा, बुरा, बहुत ठीक, शरारती, पाजीपन, इत्यादि शब्दों के प्रयोग से इस समय बच्चे को अच्छे और बुरे का कुछ विचार दिया जा सकता है।

नैतिक प्रत्यय और नैतिक व्यवहार का अन्तर इस काल में देखा जा सकता है। बच्चा स्वयं अच्छे और बुरे की ओर संकेत कर सकता है, परन्तु तदनुसार आचरण दिखलाने में वह असमर्थ हो सकता है। इस अवस्था पर वह प्रौढ़ों के अधिकार का विरोध करते हुए उनकी अवज्ञा कर सकता है।

बचपन के अन्तिम दिनों में नैतिकता

समूह के नैतिक विचारों के अनुसार ही बचपन के अन्तिम दिनों में व्यक्ति के नैतिक विचार होते हैं। छठे वर्ष की उम्र से लेकर किशोराअवस्था आने के पूर्व तक बालक उसी प्रकार आचरण दिखलाने का प्रयत्न करता है जैसा कि उसका समूह उससे अपेक्षा करता है। दस या बारह वर्ष की अवस्था पर बालक नैतिक नियमों में निहित सिद्धान्तों को कुछ-कुछ समझने लगता है। विभिन्न परिस्थितियों में अब वह नैतिक और अनैतिक व्यवहार के स्वरूप को कुछ हद तक समझ सकता है, परन्तु अब भी अपने कार्यों की नैतिकता को पूर्णरूपेण वह नहीं समझ सकता। अतः अब भी उसे दूसरों के ही निर्णय पर निर्भर रहना पड़ता है।

दस-बारह वर्ष के बाद बालक ज्यो-ज्यों बड़ा होता है वह न्याय और आदर के अर्थ को समझने लगता है। अब वह समझने लगता है कि झूठ बोलना, दूसरों की निन्दा करना, गाली देना, कायरता दिखलाना, दूसरों को सताना या हानि पहुंचाना; मित्रों को धोखा देना तथा दूसरों की वस्तुओं का ले लेना बुरा अर्थात् अनैतिक है। अतः जो झूठ बोलते हैं, धोखा देते, अथवा चोरी करते हैं उनसे वह घृणा करने लगता है।

'लर्नर' और 'मर्फी' के अनुसार आठ से दस वर्ष की अवस्था में व्यक्ति नैतिकता के दोहरे स्तरों से अनुशासित होता है। उदाहरणार्थ माता और पिता के साथ अपने व्यवहार में बच्चे इस काल में दो सिद्धान्तों के अनुसार चलते हैं। वे पिता से बहुत डरते हैं, अथवा उनकी अवज्ञा की कल्पना वे शीघ्र नहीं करते। इसके विपरीत माता से वे कम डरते हैं; क्योंकि वे सोचते हैं कि माता उन्हें अधिक प्यार करती है और उनके दोषों पर वह विशेष ध्यान नहीं देती। इस भावनावश माता से झूठ बोलना, उसे किसी बात में धोखा दे देना उनके लिए कठिन नहीं होता।

● ● ●